

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182274

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University

Call No. H 808

Accession No.

P.G.H 2465

Author

M.D.G. N. 31 G

Title

This book should be returned on or before the date
last marked below.

गद्य-रत्न-संग्रह

(हिन्दी-गद्य की प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन)

पाठ्य पुस्तक

सर्वोदय साहित्य मंदिर,

जोशी, (वसुदेव), हैदराबाद ६.

प्रकाशक

नव निर्माण प्रकाशन

९४-ई, सरोजिनी देवी रोड, सिकन्दराबाद-दक्षिण

सोल एजेण्ट्स :
पुरोहित एन्ड कम्पनी,
मुलतान बाजार
हैदराबाद-दक्षिण

संशोधित संस्करण
१९५९

O. No. 18
दक्षिण भारत प्रेस, खैरताबाद, हैदराबाद-4.

प्राथ्य पुस्तक

दो शब्द

‘गद्य-रत्न-संग्रह’ विश्वविद्यालय की पी. यू. सी. तथा अन्य विश्वविद्यालयीन प्राथमिक कक्षाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया गया है। इस संग्रह में अधिकतर प्रतिनिधि निबन्ध लेखकों के लेख ही संकलित हैं। गद्य साहित्य के भिन्न प्रकारों से विद्यार्थियों को परिचित कराने के लिए कहानी, नाटक, सस्मरण, जीवन चरित्र आदि का समावेश भी कर लिया गया है। वर्तमान युग का गद्य साहित्य विभिन्न भाषाओं के लब्ध-प्रतिष्ठ गद्य-लेखकों के अनुवादों से भी पर्याप्त मात्रा में समृद्ध हुआ है, अतएव इस तरह के साहित्य को इस संग्रह में प्रतिनिधित्व देने के लिए उर्दू तथा बंगला से अनूदित अंश भी सम्मिलित कर लिए गए हैं।

विषयों के क्रम के सम्बन्ध में हम यह सूचित कर देना आवश्यक समझते हैं कि हमारे ध्यान में विद्यार्थियों की मनोवैज्ञानिक रुचि ही प्रमुख रही है। इसीलिए लेखों को ऐतिहासिक क्रम से स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु विद्यार्थियों को लेखों के ऐतिहासिक क्रम का ज्ञान करा देने के लिए हमने इस पुस्तक के अन्त में लेखकों का परिचय देते हुए उनके समय का ठीक ठीक निर्देश कर दिया है।

अन्त में हम उन सभी लेखकों के प्रति साभार कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनकी रचनाएँ इस संग्रह में सम्मिलित की गई हैं।

अध्ययन-क्रम

विषय	लेखक	पृष्ठ
१. तपोवन	श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१
२. स्वतंत्र	„ प्रताप नारायण मिश्र	५
३. मेले का ऊँट	„ बाल मुकुन्द गुप्त	११
४. कवियों की उर्मिला- विषयक उदासीनता	„ महावीर प्रसाद द्विवेदी	१५
५. पापी पेट	श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान	१९
६. भिखारिन	श्री जयशंकर 'प्रसाद'	२६
७. स्वसंस्कार और सत्संग	„ रामचंद्र शुक्ल	३०
८. राजपूतनी का बदला	„ द्विजेन्द्रलाल राय	३८
९. चरित्र पालन	„ बालकृष्ण भट्ट	४८
१०. दो-दो बातें	„ अयोध्या सिंह उपाध्याय	५२
११. अंगुलिमाल डाकू	„ (बौद्ध कथाओं से)	५५
१२. सभ्य बननेके प्रयत्न में	„ महात्मा गाँधी	६०
१३. उसकी माँ	„ पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	६३
१४. संस्कृत के महान् पं. सूर्यदेव	„ वंशीधर विद्यालंकार	८१
१५. गो. तुलसीदास का व्यक्तित्व	„ श्याम सुन्दरदास	८९
१६. स्मृति की रेखाएँ	श्रीमती महादेवी वर्मा	९६
लेखक परिचय	...	१०९

तपोवन

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आधुनिक सभ्यता-लक्ष्मी जिस कमल पर विराज रही है वह ईंट और लकड़ी से बना है; वह है नगर या शहर। उन्नति का सूर्य जैमे-जैमे मध्य आकाश में आरहा है वैसे-वैसे शहर-रूपी कमल के दल खिल-खिलाकर क्रमशः चारों तरफ व्याप्त हुए जा रहे हैं। बेचारी वसुन्धरा इस गटने दण सुखी-चूने के गारे को रोकने में असमर्थ हो रही है।

नगर में ही मनुष्य विद्या सीख रहा है, विद्या का प्रयोग कर रहा है, धन कमा रहा है, अपने को हर तरफ से शक्ति और सम्पदा से परिपूर्ण करने की कोशिश कर रहा है। इस सभ्यता में सब से बढ़कर जो कुछ श्रेष्ठ पदार्थ है, वह है नगर की सामग्री।

वस्तुतः इसके सिवा और किसी तरह की कल्पना करना कठिन है। जहाँ अनेक मनुष्यों का सम्मिलन है, वहाँ विचित्र बुद्धियों के संघात से चित्त जागृत हो उठता है; और चारों तरफ से धक्के खा-खाकर प्रत्येक की शक्ति गति को प्राप्त होती है। इस तरह चित्त-समुद्र का मन्थन होते रहने से मनुष्य का निगूढ़ सार-पदार्थ स्वतः ऊपर आकर बहने लगता है।

उसके बाद जब मनुष्य की शक्ति जाग उठती है, तो वह स्वभावतः ऐसा क्षेत्र चाहने लगती है जहाँ वह अपना सकल प्रयोग कर सके। वह क्षेत्र कहाँ है? जहाँ अनेक मनुष्यों के अनेक प्रकार के उद्यम तरह-तरह के सृष्टि-कार्य में सर्वदा ही सचेष्ट हो रहे हैं, वहीं है वह क्षेत्र; और वह है नगर।

शुरू-शुरू में मनुष्य जब खूब भीड़ इकट्ठी करके किसी जगह शहर की रचना कर बैठता है, तब उसकी वह रचना सभ्यता के आकर्षण से नहीं होती। अधिकांश क्षेत्रों में शत्रुओं के आक्रमणों से आप-रक्षा करने के लिए ही मनुष्य किसी सुरक्षित और मुविधाजनक स्थान में एकत्र होकर रहने की आवश्यकता अनुभव करता है, परन्तु किसी भी कारण से हो, एक जगह बहुतों के इकट्ठे होने का कोई आयोजन होने पर वहा तरह-तरह के आदमियों की आवश्यकता होती है; और वही पर सभ्यता की अभिव्यक्ति स्वतः होने लगती है।

परन्तु भारतवर्ष में यह आश्चर्यजनक बात देखी गई कि यहां की सभ्यता का मूल सोता नगर में नहीं, वन में है। भारतवर्ष का प्रथम आश्चर्यकारी विकास जहाँ दिखाई देता है वहा मनुष्य के साथ मनुष्य बहुत ही नजदीक सटकर बिल्कुल गुट बांधकर नहीं बैठे। वहाँ वृक्ष, लता और नदी सरोवरों को मनुष्य के साथ मिलकर रहन का काफी अवकाश मिला था। वहाँ मनुष्य भी था और निर्जनता भी थी; धक्का धक्का नहीं था। फिर भी उस निर्जनता या सुनसान ने भारतवर्ष के चित्त को जड़ सा नहीं बना दिया, बल्कि उसकी चेतना को और भी उज्ज्वल कर दिया था। ऐसी घटना संसार में और भी कही हुई है, ऐसा तो नहीं मालूम होता।

हम लोगों ने यही देखा है कि जो मनुष्य परिस्थितिवा जंगल में घिर जाते हैं, वे क्रमशः जंगली हो जाते हैं। या तो वे व्याघ्र से हिसक हो जाते हैं, या फिर हरिण के समान भोले बने रहने हैं। परन्तु प्राचीन भारतवर्ष में, हम देखते हैं, वन की निर्जनता ने मनुष्य की बुद्धि को पराजित नहीं किया, बल्कि उसे ऐसी एक शक्ति दी थी कि उस वनवास में निकली हुई सभ्यता की धारा ने समस्त भारतवर्ष को अभिविक्रम कर दिया; और आज तक उसका प्रवाह बन्द नहीं हुआ।

समुद्र-तट ने जिस जाति का पालन-पोषण किया है, उसे वाणिज्य-सम्पदा दी है। मरुभूमि ने जिन्हें थोड़ा-सा दूध पिलाकर भूखा रख छोड़ा है वे

दिग्विजयी हुए हैं। इसी प्रकार एक एक विशेष सुयोग से मनुष्य की शक्ति ने एक-एक विशेष मार्ग प्राप्त किया है।

समतल आर्यावर्त की वन-भूमि ने भी भारतवर्ष को एक विशेष सुयोग दिया था। भारतवर्ष की वृद्धि को उसने संगार के अन्तरतम रहस्य-लोक की खोज के लिए प्रेरित किया था। उस महामुद्र-तट के अनेक मुद्गर द्वीप-द्वीपान्तरों से वह जिस सम्पदा को आहरण कर लाई थी, समस्त मनुष्य-जाति को आये दिन उसकी आवश्यकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

भारतवर्ष में जो बड़े-बड़े दो प्राचीन युग बीत चुके हैं, वैदिक युग और बौद्ध-जैनयुग; इन दोनों युगों को वन ही ने धात्री के रूप में धारण किया है। केवल वैदिक ऋषियों ने ही नहीं, भगवान् बुद्ध और महावीर ने भी कितने ही आम्रवनों और कितने ही वेणुवनों में अपने उपदेशों की वर्षा की है; राजप्रसाद में वे समाये ही नहीं, वनों ने ही उन्हें अपने हृदय से लगाया था।

क्रमशः भारतवर्ष में राज्य, साम्राज्य और नगर-नगरियों की स्थापना हुई। देश-विदेशों के साथ उसके वाणिज्य का आदान-प्रदान चला; अन्न-लोलुप कृषि क्षेत्रों ने धीरे-धीरे छाया-शान्त अरण्यों को दूर से दूर हटा दिया; परन्तु उस प्रतापशाली-ऐश्वर्यपूर्ण यौवन वृत्त भारतवर्ष ने वन का ऋण स्वीकार करने में कर्मा भी लज्जा का अनुभव नहीं किया। तत्सया को ही उसने अन्य समस्त प्रयासों की अनेक्षा अधिक सम्मान दिया है। और वनवासों प्राचीन तपस्त्रियों को ही अपना आदिपुरुष मानकर भारतवर्ष के राजा महाराजाओं ने भी गौरव अनुभव किया है, भारतवर्ष की पुराण-कथाओं में जो कुछ महत्, आश्चर्यकारी और पवित्र है, जो कृच्छ्र श्रेष्ठ और पूज्य है, वह सब-का सब प्राचीन तपोवन की स्मृति के साथ विजडित है। बड़े-बड़े राजाओं के राज्य करने की कथा याद कर रखने की उमने कोशिश नहीं की, परन्तु नाना क्रान्तियों के भीतर से गुजरते हुए भी, वन की सामग्री को अपने प्राणों

की सामग्री बनाकर आज तक वह उसे वहन करता आया है। मानव-इतिहास में भारतवर्ष की यही सब-से बड़ी विशेषता है।

भारत में विक्रमादित्य जब राजा थे, उज्जयिनी जब महानगरी थी और कालिदास जब कवि थे, तब इस देश में तपोवन का युग चल रहा था। तब चीनी, हूण, शक, ईरानी, ग्रीक, रोमन सब हमारे चारों तरफ भीड़ लगाये हुये थे। उस समय का दृश्य, जनक सरीखे राजा को एक ओर हल हाथ में लिये खेती करते और दूसरी ओर देश-देशान्तर से आये हुए ज्ञान-पिपासुओं को ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा देते हुए देखने का दृश्य नहीं था। परन्तु उस ऐश्वर्य-मद से गर्वित युग में भी उस समय के श्रेष्ठ कवि ने तपोवन की कथा ऐसे सुन्दर ढंग से कही है कि उसे देखने से साफ समझ में आ जाता है कि तपोवन, हमारी दृष्टि से ओझल हो जाने पर भी, हमारे हृदय में जमकर बैठा हुआ है। कालिदास विशेषरूप से भारतवर्ष के ही कवि हैं, यह बात उनके तपोवन के चित्रण से ही प्रमाणित हो जाती है। ऐसे परिपूर्ण आनन्द के साथ तपोवन के ध्यान को और कौन मूर्तिमान कर सका है।

कालिदास के तपोवन में हरिण-हरिणियाँ ऋषि-पत्नियों की सन्तान-सी मालूम होती हैं। उन्हें नीवार धान्य का हिस्सा मिलता है और वे बिना किसी संकोच के कुटीर का द्वार घेरे पड़ी रहती हैं। मुनि-कन्यायें पेड़-पौधों में पानी देती हैं और पौधों के नीचे का आलवाल ज्योंही जल से भर आता है त्योंही वे हट जाती हैं; पक्षी निःशक होकर जल पिये, यही उनका अभिप्राय रहता है। वहाँ हम देखते हैं, सूर्य पश्चिमाकाश की ओर बढ़ रहा है, संध्या-समागम होने के पहिले ही कुटीर के प्रांगण में नीवार-धान्य का ढेर लग गया है, और वहाँ हरिणियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। आहुति का सुगन्धित धुआँ पवन में प्रवाहित होकर आश्रमोन्मुख अतिथियों के सम्पूर्ण शरीर को पवित्र कर रहा है। तरु-लता और पशु-पक्षी सबके साथ मनुष्य के मिलन की पूर्णता, यही तपोवन के भीतर का भाव है।

२-स्वतंत्र

श्री प्रतापनारायण मिश्र

हमारे बाबू साहब ने बरसों स्कूल की खाक छानी है, बंसियों मास्टरों का दिमाग चाट डाला है, विलायत भर के ग्रन्थ चरे बैठे हैं, पर आज तक हिस्ट्री, जियोग्रेफी आदि रटने में विद्या-विभाग के अधिकारीगण जितना समय नष्ट कराते हैं, उसका शतांश भी स्वास्थ्य-रक्षा और सदाचार-शिक्षा में लगाया जाता हो तो बतलाइए। यही कारण है कि जितने बी० ए०, एम० ए०, देखने में आते हैं उनका शरीर प्रायः ऐसा ही होता है कि आँधी आवे तो उड़ जाय। इसी कारण उनके बड़े-बड़े खयालात या तो देश पर कुछ प्रभाव ही नहीं डालने पाते या उलटा असर दिखाते हैं, क्योंकि तन और मन का इतना दृढ़ संबंध है कि एक बेकाम हो तो दूसरा भी पूरा काम नहीं दे सकता। और यहां देह के नीरोग रखनेवाले नियमों पर आरम्भ से आज तक कभी ध्यान ही नहीं पहुँचा। फिर काया के निकम्मेपन में क्या सन्देह है, और ऐसी दशा में दिल और दिमाग निर्दोष न हों तो आश्चर्य क्या है। ऊपर से आप को अपने देश के जलवायु के अनुकूल आहार-विहार आदि नापसद ठहरे। इसमें और भी तन्दुरुस्ती में नेचर का शाप लगा रहता है। इसपर भी जो कोई रोग उभड़ आया तो चौगुने दाम लगाके, अठगुना समय गँगा के विदेशी ही औषधि का व्यवहार करेंगे, जिसका फल प्रत्यक्ष रूप से चाहे अच्छा भी दिखाई दे पर वास्तव में धन ही नहीं, वरंच देशीय रहन सहन के विरुद्ध होने से स्वास्थ्य को भी ठीक नहीं रखता, जन्म-रोगीपने की कोई न कोई डिग्री अवश्य प्राप्त करा देता है।

यदि सौ जेंटिलमैन इकट्ठे हों तो कदाचित् ऐसे दस भी न निकले- जो सचमुच किसी राजरोग की कुछ न कुछ शिकायत न रखते हों। इस दशा में हम कह सकते हैं कि आप लोगों का शरीर तो स्वतंत्र नहीं है, डाक्टर साहब के हाथ का खिलौना है। यदि भूख से अधिक डबल रोटी का चौथाई भाग भी खा ले, तो मरना-जीना ईश्वर के आधीन है, पर कुछ दिन व घंटों के लिए जमपुरी के फाटक तक अवश्य हों आवेगें, और वहाँ कुछ भेंट चढ़ाये और 'हा हा, हू हू' का गीत गाए बिना न लौटेंगे। फिर कौन कह सकता है कि मिस्टर विदेशदास अपने शरीर से स्वतंत्र हैं ?

और सुनिये, अब वह दिन तो रहे ही नहीं कि देश का धन देश ही में रहता हो, और प्रत्येक व्यवसायी को निश्चिन्त हो कि जिस वर्ष धधा चल गया उसी वर्ष, वा जिस दिन स्वामी प्रसन्न हो गया उसी दिन, सब दुःख-दरिद्र टल जायेंगे। अब तो वह समय लगा है कि तीन खाओ तेरह की भूख सभी को बनी रहती है। रोजगार-व्यवहार के द्वारा साधारण रीति से निर्वाह होता रहे, यही बहुत है। विशेष कार्यों में व्यय करने के अवसर पर आजकल सैकड़ों पीछे दस जने भी ऐसे नहीं देख पड़ते जो चिन्ता से व्यस्त न हो जाते हों। इसपर भी हमारे हिन्दुस्तानी साहब के पिता ने सपूत जी के पढ़ाने में भली-चंगी रोकड़ उठा दी है।

इधर आपने जब से स्कूल में पाँव रखे हैं तभी से विलायती वस्तुओं के व्यवहार की लत डाल के खर्च बढ़ा रखा है। यों लेक्चर देने में चाहे जैसी सुन लीजिये पर वर्ताव देखिए तो पूरा सात समुद्र के पार ही का पाइएगा ! इसपर भी ऐसे लोगों की संख्या इस देश में अब बहुत नहीं है, जो धाए-धूँ के बिना अपना तथा कुटुम्ब का पालन कर सकते हों। इससे बाबू साहब को भी पेट के लिए कुछ करना पड़ता है, सो और कुछ न कर सकते हैं, न करने में अपनी इज्जत समझते हैं। अतः हेर-फेरकर नौकरी ही की शरण सूझती है। वहाँ भी काले रंग के कारण इनकी विद्या-बुद्धि का उचित आदर नहीं। ऊपर से भूख के बिना भोजन करने में स्वास्थ्य-

नाश हो, खाने के पीछे झपट के चलने से रोगों की उत्पत्ति हो, तो हो, पर ड्यूटी पर ठीक समय में न पहुँचने तो रहें कहाँ ?

बाजे-बाजे महकमों में अवसर पड़ने पर न दिन छुट्टी न रात छुट्टी, पर छुट्टी का यत्न करें तो नौकरी ही में छुट्टा हो जाने का डर है। इस पर भी जो कही मालिक कड़े मिजाज का हुआ तो और भी कोढ़ में खाज है; पर उसकी झिड़की आदि न खाएँ तो रोटी ही कहाँ से खाएँ। यह खाते न भी हों तो भी नौकरी की जड़ कितनी ? ऐसी-ऐसी बातें बहुधा देखकर कौन न कहेगा कि काले रंग के गोरे मिजाजवाले साहब अपने निर्वाहोपयोगी कर्तव्य में भी स्वतंत्र नहीं हैं।

अब घर की दशा देखिए तो यदि कोई और बड़ा बूढ़ा हुआ, और इनका दबैल न हुआ तो जीभ से चिट्ठी का लिफाफा चाटने तक स्वतंत्रता नहीं। बाहर भले ही जाति, कुजाति, अजाति के साथ भच्छ, कुभच्छ अभच्छ भच्छन कर आवें, पर देहलो पर पाँव धरने ही आचार का नाट्य न करें तो किसी काम के न रखे जायें। बहुत नहीं तो वाक्य-वाणी ही से छेद के छलनी कर दिए जायें। हयादार को इतना भी थोड़ा नहीं है। हाँ, यदि 'एक लज्जाम्परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्' का सिद्धान्त रखते हों और खाने भर को कमा भी लेते हों वा घर के करता-धरता आप ही हों तो इतना कर सकते हैं कि प्रगुआईन कोई सुशिक्षा दें तो उनको डाँट ले, पर यह मजाल नहीं है कि उन्हें अपनी राह पर ला सकें, क्योंकि परमेश्वर की दया से अभी भारत की कुलांगनाओं पर कलयुग का पूरा प्रभाव नहीं हुआ, इससे उनमें सत्कर्म, कुलाचार, व्यवहार का निरा अभाव भी नहीं है।

यद्यपि गृहेश्वरी के यजन-भजन का उद्देश्य प्रायः आप ही के मंगलार्थ होता है, पर आप तो मन और वचन से इस देश ही के न ठहरे। फिर यहाँ वालों के आंतरिक भाव कैसे समझें? बन्दर की ओर बरफी लेकर हाथ उठाओ तो भी वह ढेला ही समझकर खी खी करता हुआ भागेगा !

बिचारी सीधी-साधी अबला-बाला ने न कभी विधर्मी शिक्षा पाई है, न मुंह खोल के कभी मरते-मरते भी अपने पराए लोगों में नाना भाँति की जटल्लें कहने-सुनने का साहस रखती है। फिर बाबू साहब को कैसे लेक्चरराजी करके समझा दें कि तोता-मैना तक मनुष्य की बोली सीख के मनुष्य नहीं हो जाते, फिर आप ही राजभाषा सीख कर कैसे राजजातीय हो जायेंगे ? देह का रंग तो बदल ही नहीं सकते, और सब बातें क्योंकर बदल लीजिएगा ? हाँ, दूसरे की चाल चल कर कृतकार्य तो कोई हुआ नहीं, अपनी हँसी करना होता है, वही करा लीजिए।

अब यहाँ पर विचारने का स्थल है कि जहाँ दो मनुष्य न्यारे-न्यारे स्वभाव के हों, और एक की बातें दूसरे को घृणित जान पड़ती हों वहाँ चित्त को प्रसन्नता किस प्रकार हो सकती है। स्त्री चाहे धर्म के अनुरोध से इनकी कुचाल को सहन भी कर ले, पर लोक-लज्जा के भय से गले में हाथ डाल के सँर तो कभी न करेगी, और ऐसा न हुआ तो इनका जन्म सफल होना असम्भव है ! इससे मन ही मन कुढ़ने वा बात-बात पर खौखियाने के सिवा कुछ बन नहीं पड़ता, फिर कैसे कहियेगा कि आप अपने घर में स्वतंत्र है ?

रही घर के बाहर की बात, वहाँ अपने ही टाइपवालों में चाहे जैसे गिने जाते हों, पर देश का अधिकांश न इनकी प्यारी भाषा को समझता है, न भेष पसंद करता है, न इनके से आंतरिक और बाह्यिक भावों से रुचि रखता है।

यों ही पर-पथावलम्बियों का भी हाल समझ लो। यह जीवनधारियों का जाति-स्वभाव है कि इतरों में अपनायत का लेश पाकर जैसे अधिक आदर करते हैं वैसे ही अपने में इतरता की गन्ध भी आती है तो जी बिगाड़ लेते हैं और जहाँ एक मनुष्य को बहुत लोगों के रुष्ट हो जाने का भय लगा हो वहाँ स्वतन्त्रता कहाँ ? अतः हमारे लेख के लक्ष्य महाशय कुटुम्ब की अपेक्षा देश-जाति वालों के मध्य और भी परतन्त्र हैं।

यदि यह समझा जाय कि घर-दुआर, देश-जाति को तिलांजलि देकर जिनके साथ तन्मय होने के अभिलाषी हैं उनमें जा मिलें तो स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। आशा निरी दुराशा है। उच्च प्रकृति के अंगरेज ऐसों को इस विचार से तुच्छ समझते हैं कि जो अपनों ही का नहीं हुआ वह हमारा क्या होगा? बुद्धिमानों की आज्ञा है कि जिसके साथ मित्रता करनी हो उसका पहले यह पता लगा लो कि वह अपने पहले मित्रों के साथ कैसा-बर्ताव रखता था।

इसके सिवा नेचर का विरोध करें तो दुःख सहने में स्वतंत्रता नहीं, सामर्थ्य का तनिक भी उल्लंघन करने पर किसी काम में स्वतंत्र नहीं, कोई प्रबल मनुष्य, पशु वा रोग आ घरे तो जान बचाने में स्वतन्त्र नहीं, मरने-जीने में स्वतंत्र नहीं; जिधर देखो परतंत्रता ही दृष्टि पड़ती है। पर आप अपने को स्वतंत्र ही नहीं; वरञ्च स्वतंत्रता का तत्वज्ञ और प्रचार-कर्ता माने बैठे हैं। क्या कोई बतला सकता है कि यह माया-गुलाम साहब किस बात में स्वतंत्र है?

हाँ, हमसे सुनो, आप वेद-पुराणादि पर राय देने में स्वतन्त्र हैं, संस्कृत का काला अक्षर नहीं जानते, हिन्दी के भी साहित्य को खाक-धूल नहीं समझते, पर इसका पूरा ज्ञान रखते हैं कि वेद पुराने जंगलियों के गीत हैं वा पुराण स्वाधियों की गद्दी हुई झूठी कहानियाँ हैं, ज्योतिष तथा मन्त्र-शास्त्रादि ठग-विद्या हैं। ऐसी-ऐसी बेसिर-पैर की सत्यानाशी रागिनी अलापने में स्वतंत्र है। यदि ऐसी बातें इन्हीं के पेट में बनी रहें तो भी अधिक भय नहीं है, समझने वाले समझ लें कि थोड़े से आत्मिक रोगी भी देश में पड़े हैं, उनके लुढ़कते ही 'खसकम जहान पाक' हो जायगा। पर यह स्वतंत्रता के भुक्खड़ व्याख्यानों और लेखों के द्वारा भारत-संतानमात्र को अपना पिछलगा बनाने में सयत्न रहते हैं, यही बड़ी भारी बुराई है।

वहीं विदेश के बुद्धिमान तनिक भी हमारे सद्बिद्या-भांडार से परिचित होते हैं तो प्राचीनकाल के महर्षियों की बुद्धि पर बलि-बलि जाते हैं, वरंच

बहुतेरे उनकी आज्ञा पर भी चलने लगते हैं, और इसके पुरस्कार में परमात्मा उन्हें सुख-सुयश का भागी प्रत्यक्ष में बना देता है, तथा परीक्षा के लिए अर्न्त मंगल का निश्चय उनकी आत्मा को आप हो जाता है। यह देखकर भी जिसकी आँखें न खुलें, और इतना न सूझे कि जिन दिव्य-रत्नों को दूर-दूर के परीक्षक भी गौरव से देखते हैं, उन्हें काँच बताना अपनी ही मनोदृष्टि का दोष दिखलाना है, और जो ऐसा साहस करने में स्वतंत्र बनता है उसके लिए विचारशीलमात्र कह सकते हैं कि यह स्वतन्त्रता एक प्रकार का उन्माद है, जिसका लक्षण है—किसी बात वा वस्तु को कुछ का कुछ समझ लेना, व बिना जानी बात में अपने को ज्ञाता एवं शक्ति से बाहर काम करने में समर्थ मान बैठना।

३-मेले का ऊँट

श्री बालमुकुन्द गुप्त

भारतमित्र-सम्पादक ! जीते रहो-दूध बताशे पीते रहो । भाँग भेजी सो अच्छी थी । फिर वैसी ही भेजना । गत सप्ताह अपना चिट्ठा आपके पत्र में टटोलते हुए 'मोहन मेले' के लेख पर निगाह पड़ी । पढ़कर आपकी दृष्टि पर अफ़सोस हुआ । भाई ! आपकी दृष्टि गिद्ध की-सी होनी चाहिये क्योंकि आप सम्पादक हैं । किन्तु आपकी दृष्टि गिद्ध की-सी होने पर भी उस भूखे गिद्ध की-सी निकली, जिसने ऊँचे आकाश में चढ़े चढ़े भूमि पर एक गेहूँ का दाना पड़ा देखा, पर उसके नीचे जो जाल बिछ रहा था वह उसे न सूझा । यहां तक कि उस गेहूँ के दाने को चुगने से पहले जाल में फँस गया ।

'मोहन-मेले' में आप का ध्यान दो एक पैसे की एक पूरी की तरफ गया । न जाने आप घर से कुछ खाकर गये थे या यों ही । शहर की एक पैसे की पूरी के मेले में दो पैसे हों तो आश्चर्य न करना चाहिए, चार पैसे भी हो सकते थे । यह क्या देखने की बात थी ? तुमने व्यर्थ बातें बहुत देखीं, काम की एक भी तो देखते ! दाईं ओर जाकर तुम ग्यारह सौ सतरों का एक पोस्टकार्ड देख आये, पर बाईं तरफ बैठा हुआ हुआ ऊँट भी तुम्हें दिखाई न दिया ! बहुत लोग उस ऊँट की ओर देखते और हँसते थे । कुछ लोग कहते थे कि कलकत्ते में ऊँट नहीं होते इसी से मोहन-मेले वालों ने इस बिचित्र जानवर का दर्शन कराया है । बहुत-सी शौकीन बीवियाँ, कितने हो फूल-बाबू ऊँट का दर्शन करके खिलते दाँत निकालते चले गये । तब कुछ मारवाड़ी बाबू भी आये और झुक-झुककर उस काठ के घेरे में बंठे ए

ऊँट की तरफ देखने लगे । एक ने कहा—“ऊँटडो है ।” दूसरा बोला—“ऊँटडो कठेते आयो ?” ऊँट ने भी यह देख दोनों ओठों को फड़काते हुए थूथनी फटकारी । भंग की तरंग में मैंने सोचा कि ऊँट अवश्य ही मारवाड़ी बाबुओं से कुछ कहता है । जी में सोचा कि चलो देखें, वह क्या कहता है । क्या उसकी भाषा मेरी समझ में न आवेगी ? मारवाड़ियों की भाषा समझ लेता हूँ तो मारवाड़ के ऊँट की बोली समझ में न आवेगी ? इतने में तरंग कुछ अधिक हुई । ऊँट की बोली साफ-साफ समझ में आने लगी । ऊँट ने उन मारवाड़ी बाबुओं की ओर थूथनी करके कहा—

“बेटा ! तुम बच्चे हो, तुम क्या जानोगे ? यदि मेरी उमर का कोई होता तो यह जानता । तुम्हारे बाप के बाप जानते थे कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ । तुम ने कलकत्ते के महलों में जन्म लिया, तुम पोतडों के अमीर हो ! मेले में बहुत चीजें हैं उनको देखो । और यदि तुम्हें कुछ फुरसत हो तो लो सुनो, सुनाता हूँ—

“आज दिन तुम विलायती फिटिन, टमटम और जोड़ियों पर चढ़कर निकलते हो, जिनकी कतार तुम मेले के द्वार पर मीलों तक छोड़ आये हो तुम उन्हीं पर चढ़कर मारवाड़ से कलकत्ते नहीं पहुँचे थे । ये सब तुम्हारे साथ की जन्मी हुई है । तुम्हारे बाप पचास साल के भी न होंगे, वह भी मुझे भली भाँति नहीं पहचानते । हाँ, उनके भी बाप हों तो मुझे पहचानेंगे । मैंने ही उनको पीठ पर लाद कर कलकत्ते तक पहुँचाया है ।

“आज से पचास साल पहले रेल कहाँ थी ? मैंने मारवाड़ से मिरजापुर तक और मिरजापुर से रानीगंज तक कितने ही फेरे किये हैं । महीनों तुम्हारे पिता के पिता तथा उनके भी पिताओं का घर-बार मेरी ही पीठ पर रहता था । जिन स्त्रियों ने तुम्हारे बाप और बाप के बाप को जन्म दिया है, वे सदा मेरी पीठ को ही पालकी समझती थीं । मारवाड़ में मैं सदा तुम्हारे द्वार पर हाज़िर रहता था, पर यहाँ वह मौका कहाँ ? इसी

से इस मेले में तुम्हें देखकर आँखें शीतल करने आया हूँ । तुम्हारी भक्ति घट जाने पर भी मेरा वात्सल्य नहीं घटा है । घटे कैसे, मेरा-तुम्हारा जीवन एक हो रस्सी से बँधा हुआ था । मैं ही हल चलाकर तुम्हारे खेतों में अन्न उपजाता था । और मैं ही चारा आदि पीठ पर लादकर तुम्हारे घर पहुँचाता था । यहाँ कलकत्ते में जल की कलें हैं, गंगाजी हैं, जल पिलाने को ग्वाले-कहार हैं, पर तुम्हारी जन्म-भूमि में मेरी ही पीठ पर लादकर जल कोसों से चला आता था और तुम्हारी प्यास बुझाता था ।

“मेरी इस घायल पीठ को घृणा से न देखो । इस पर तुम्हारे बड़े, अन्न रस्सियाँ यहाँ तक कि उपले लाद कर दूर-दूर तक ले जाते थे । जाते हुए मेरे साथ पैदल जाते थे और लौटते हुए मेरी पीठ पर चढ़े हुए हिच-कोले खाते वह स्वर्गीय सुख लूटते थे कि तुम रबड़ के पहियेवाले, चमड़े की कोमल गद्दियोंदार फिटिन में बैठ कर भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते । मेरी बलबलाहट उनके कानों को इतनी सुरीली लगती थी कि तुम्हारे बगीचों में तुम्हारे गर्वियों तथा तुम्हारी पसंद की बीवियों के स्वर भी तुम्हें उतने अच्छे न लगते होंगे । मेरे गले के घण्टों का शब्द उनको सब बाजो से प्यारा लगता था । फोग के जंगल में मुझे चरते देख कर वे उतने ही प्रसन्न होते थे जितने तुम अपने सजे बगीचों में भंग पीकर, पेट भर कर और ताश खेल कर ।”

भंग की निन्दा सुनकर मैं चौक पड़ा । मैंने ऊँट से कहा—बस, बल-बलाना बन्द करो । यह बावला शहर नहीं, जो तुम्हें परमेश्वर समझे । तुम पुराने हो तो क्या, तुम्हारी कोई कल सीधी नहीं है । जो पेड़ों की छाल और पत्तों से शरीर ढाँकते थे, उनके बनाये कपड़ों से सारा संसार बाबू बना फिरता है । जिसके पिता सर पर गठरी ढोते थे, वही पहले दर्जे के अमीर हैं । जिनके पिता स्टेशन से गठरी आप ढोकर लाते थे, उनको सिर पर पगड़ी सँभालना भारी है । जिनके पिता का कोई पूरा नाम न लेकर पुकारता था, वह बड़ी-बड़ी उपाधि धारे हुए हैं । संसार का जब यही रंग

हैं तो ऊँट पर चढ़नेवाले सदा ऊँट पर चढ़ें, यह कुछ बात नहीं। किसी की पुरानी बात यों खोलकर कहने से आजकल के कानून से हतक इज्जत हो जाती है। तुम्हें खबर नहीं कि अब मारवाड़ियों ने 'असोसिएशन' बना ली है। अधिक बलबलाओगे तो वे 'रिजोल्यूशन' पास करके तुम्हें मारवाड़ से निकलवा देंगे। अतः उनका कुछ गुणगान करो जिससे वे तुम्हारे हक को समझें। जिस प्रकार लाडं कर्जन ने किसी जमाने के 'ब्लैक होल' को उसपर लाट बनवाकर और उसे संगमरमर से मढ़वाकर शानदार बना दिया है, उसी प्रकार मारवाड़ी तुम्हारे लिए मखमली काठी, जरी की गद्दियाँ हीरे, पन्ने की नकेल और सोने की घण्टियाँ बनवाकर तुम्हें बड़ा करेंगे, और अपने बड़ों की सवारी का सम्मान करेंगे।

४--कवियों की ऊर्मिला-विषयक उदासीनता

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

कवि स्वभाव ही से उच्छृंखल होते हैं। वे जिस तरफ झुक गये झुक गये। जी में आया तो राई का पर्वत कर दिया; जी में न आया तो हिमालय की तरफ भी आंख उठा कर न देखा। यह उच्छृंखलता या, उदासीनता सर्वसाधारण कवियों में तो देखी ही जानी है, आदिकवि तक इससे नहीं बचे। कौच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी को निषाद द्वारा वध किया गया देख जिस कवि-शिरोमणि का हृदय दुःख से विदीर्ण हो गया, और जिसके मुख से 'मानिषाद' इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पड़ी वही पर-दुःख-कातर मुनि, रामायण निर्माण करते समय, एक नवपरिणीता दुःखिनी वधू को विलकुल ही भूल गये। विपत्ति विधुरा होने पर उसके साथ अलादल्पतरा समवेदना तक उसने प्रकट न की—उसकी खबर तक न ली।

वाल्मीकि रामायण का पाठ किंवा पारायण करने वालों को उर्मिला के दर्शन सत्र से पहले जनकपुर में सीता, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के साथ होते हैं। सीता की बात तो जाने ही दीजिए। उनके और उनके जीवनाधार रामचन्द्र के चरित्र-चित्रण ही के लिए रामायण की रचना हुई। माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के विषय में कोई विशेषता नहीं, क्योंकि आग से भी अधिक सन्ताप पैदा करने वाला पति-वियोग उनको हुआ ही नहीं। रही बाल-वियोगिनी देवी उर्मिला, सो उसका चरित्र सर्वथा गेय और आलेख्य होने पर भी, कवि ने उसके साथ अन्याय किया। मुने ! इस देवी की इतनी उपेक्षा क्यों ? इस सर्व सुखवंचिता के विषय में इतना पक्षपात-

कार्पण्य क्यों ? क्या इसलिये कि इसका नाम इतना श्रुतिमुखद, इतना मंजुल, इतना मधुर है और तापसजनों का शरीर सदैव शीतातप सहने के कारण कठोर और कंकश होता है—पर नहीं, आपका काव्य पढ़ने से तो यही जान पड़ता है कि आप कठोरता-प्रेमी नहीं। भवतु नाम। हम इस उपेक्षा का एकमात्र कारण भगवती ऊर्मिला का भाग्यदोष ही समझते हैं। हा हतविधिलसते ! परमकारुणिकेन मुनिमा वाल्मीकिनापि विस्मृतासि।

हाय वाल्मीकि ! जनकपुर में तुम ऊर्मिला को सिर्फ एक बार, वैवाहिक-वधू वेश में, दिखा कर चुा हो बैठे। अयोध्या आने पर ससुराल में उसकी सुधि यदि आपको न आई थी तो न सही पर क्या लक्ष्मण के वनप्रयाण-समय में भी उसके दुःखाश्रुमोचन करना आपको उचित न जँचा ? रामचन्द्र के राज्याभिषेक की जब तैयारियाँ हो रही थीं, जब राजान्तःपुर ही क्यों सारा नगर नन्दन-वन बन रहा था, उस समय नवला ऊर्मिला कितनी खुशी मना रही थी, सो क्या आपने नहीं देखा ? अपने पति के परमाराध्य राम को राज्य-सिंहासन पर आसीन देख ऊर्मिला को कितना आनन्द होता, इसका अनुमान क्या आपने नहीं किया ? हाय, वही ऊर्मिला एक घण्टे बाद, राम-जानकी के साथ, निज पति को १४ वर्ष के लिए बन जाते हुए देख छिन्नमूल शाखा की तरह राज-सदन की एक एकांत कोठरी में भूमि पर लोटती हुई क्या आपके नयनगोचर नहीं हुई ? फिर भी उसके लिए आपकी “वचने दरिद्रता” ? ऊर्मिला वैदेही की छोटी बहन थी। सो उसे बहन का वियोग सहना पड़ा और प्राणाधार पति का भी वियोग सहना पड़ा। पर इतनी घोर दुःखिनी होने पर भी आपने दया न दिखाई। चलते समय लक्ष्मण को उसे एक बार आँख भर देख भी न लेने दिया ? जिस दिन राम और लक्ष्मण, सीतादेवी के साथ चलने लगे—जिस दिन उन्होंने पुरत्याग से अयोध्या नगरी को अन्धकार में, नगरवासियों को दुःखोदधि में और पिता को मृत्यु-सुख में निपतित किया, उस दिन भी आपको ऊर्मिला याद न आई। उसकी क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी, सो कुछ भी आपने न सोचा; इतनी उपेक्षा?

लक्ष्मण ने अकृत्रिम भ्रातृस्नेह के कारण बड़े भाई का साथ दिया । उन्होंने राज-पाट छोड़कर अपना शरीर रामचन्द्र को अर्पण किया, यह बहुत बड़ी बात की । पर ऊर्मिला ने इससे भी बढ़कर आत्मोत्सर्ग किया । उसने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम-जानकी के लिए दे डाला और यह आत्मसुखोत्सर्ग उसने तब किया जब उसे व्याह कर आये हुए कुछ ही समय हुआ था । उसने अपने सांसारिक सुख के सब से अच्छे अंश से हाथ धो डाला । जो सुख विवाहोत्तर उसे मिलता उसकी बराबरी १४ वर्ष पति-वियोग के बाद का सुख कभी नहीं कर सकता । नवोदित्व को प्राप्त होते ही जिस ऊर्मिला ने, रामचन्द्र और जानकी के लिए, अपने सुख-सर्वस्व पर पानी डाल दिया, उसी के लिए अन्तर्दर्शी आदिकवि के शब्द-भण्डार में दरिद्रता ?

पति-प्रेम और पति-पूजा की शिक्षा सीतादेवी को जहाँ मिली थी वहीं ऊर्मिला को भी मिली थी । सीतादेवी की सम्मति :

जहाँ लगि नाथ नेह अरु नाते ।
पिय बिनु तियाहि तरनि ते ताते ।

ऊर्मिला की क्या यह भावना न थी ? जरूर थी । दोनों एक ही घर की थी । ऊर्मिला भी पतिपरायणता-धर्म को अच्छी तरह जानती थी । पर उसने लक्ष्मण के साथ वन-गमन की हठ, जान-बूझकर नहीं की । यदि वह भी साथ जाने को तैयार होती, तो लक्ष्मण को अपने अग्रज राम के साथ उसे ले जाने में संकोच होता, और ऊर्मिला के कारण लक्ष्मण अपने उस आराध्य युग्म की सेवा भी अच्छी तरह न कर सकते । यही सोच कर ऊर्मिला ने सीता का अनुकरण नहीं किया । यह बात उसके चरित्र की बहुत बड़ी महत्ता की बोधक है । वाल्मीकि को ऐसी उच्चशाय रमणी का विस्मरण होते देख किस कविता-मर्मज्ञ को आन्तरिक वेदना न होगी ?

तुलसीदास जी ने भी ऊर्मिला पर अन्याय किया है। आपने इस विषय में आदिकवि का ही अनुकरण किया है। “नानापुराणनिगमागम-सम्मत” लेकर जब “रामचरितमानस” की रचना करने की घोषणा की थी, तब यहाँ पर आदिकाव्य को ही अपने वचनों का आधार मानने की वैसी कोई जरूरत न थी। आपने भी चलते वक्त लक्ष्मण को ऊर्मिला से नहीं मिलने दिया। माता से मिलने के बाद, झट कह दिया—

गये लषण जहँ जानकी नाथा ।

आपके इष्टदेव के अनन्य सेवक “लषण” पर इतनी सख्ती क्यों ? अपने कमण्डलु के करुणावारि का एक भी बूंद आपने ऊर्मिला के लिए न रक्खा। सारा का सारा कमण्डलु सीता को समर्पण कर दिया। एक ही चौपाई में ऊर्मिला की दशा का वर्णन कर देते। अथवा उसी के मुह से कुछ कहलाते। पाठक सुन तो लेते कि राम-जानकी के वनवास और अपने पति के वियोग के सम्बन्ध में क्या-क्या भावनाएँ उसके कोमल हृदय में उत्पन्न हुई थी। ऊर्मिला को जनकपुर से साकेत पहुँचा कर उसे एक दम ही भूल जाना अच्छा नहीं हुआ।

हाँ, भवभूति ने इस विषय में कुछ कृपा की है। राम, लक्ष्मण और जानकी के वन से लौट आने पर भवभूति को बिचारी ऊर्मिला एक बार याद आ गई है। चित्र-फलक पर ऊर्मिला को देख कर सीता ने लक्ष्मण से पूछा—“इयमप्यपरा का ?” अर्थात् लक्ष्मण यह कौन है ? इस प्रकार देवर से पूछना कौतुक से खाली नहीं। इसमें सरसता है। लक्ष्मण इस बात को समझ गये। वे कुछ लज्जित होकर मन में कहने लगे—ऊर्मिला को सीता देवी पूछ रही हैं। उन्होंने सीता के प्रश्न का उत्तर दिए बिना ही ऊर्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया। उनके हाथ से वह ढक गया। कैसे खेद की बात है कि ऊर्मिला का उज्ज्वल चरित्र चित्रकवियों के द्वारा भी आज तक इसी तरह ढकता आया।

५-पापी पेट

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

आज सभा में लाठी चार्ज हुआ। प्रायः ५००० निहत्थे और शान्त मनुष्यों पर पुलिस के पचास जवान लौहबन्द लाठियाँ लिये हुए टूट पड़े। लोग अपनी जान बचाकर भागे; पर भागते-भागते भी प्रायः पाँच सौ आदमियों को सड़त चोटें आई और तीन तो बेहोश होकर सभा-स्थल में ही गिर पड़े। तीन-चार प्रमुख व्यक्ति गिरफ्तार करके जेल भेज दिए गए।

पुलिस ने झंडे के विशाल खम्भे को काट कर गिरा दिया और आग लगा दी। तिरंगा झंडा फाड़ कर पैरों तले रौंद डाला गया। सब के हृदय में सरकार की सत्ता का आतंक छा गया।

प्रकट रूप से विजय पुलिस की ही हुई। उनके सामने सभी लोग भागते हुए नज़र आए। और यदि किसी ने अपनी जगह पर खड़े रहने का साहस दिखलाया तो वह लाठियों के मारे धराशायी कर दिया गया। परन्तु इस विजय के होते हुए भी उनके चेहरों पर विजय का उल्लास नहीं था, प्रत्युत ग्लानि ही छाई थी। उनकी चाल में आनन्द का हलका-पन न था वरन् ऐसा मालूम होता था कि जैसे पैर मन-मन भर के हो रहे हों। हृदय उछल नहीं रहा था वरन् एक प्रकार से दबा-सा जा रहा था।

पुलिस लाइन में पहुँच कर सिपाही लाठी चार्ज की चर्चा करने लगे। सभी को लाठी चार्ज करने, निहत्थे, निरपराध व्यक्तियों पर हाथ चलाने

का अफ़सोस हो रहा था। सिपाही राम खिलावन ने अपनी कोठरी में जाकर अन्दर से दरवाज़ा लगा लिया और लाठी चूल्हे में जला दी। उसकी लाठी के वार से एक सुकमार बालक की खोपड़ी फट गई थी। उसने मन में कहा,— बिचारे निहत्थे और निरपराधों को कुत्तों की तरह लाठी से मारना ! राम, राम, यह हत्या ! किसके लिए ? पेट के लिए ? इस पापी पेट को तो जानवर भी भर लेते हैं। फिर हम आदमी होकर इतना पाप क्यों करे ? इस बीस रुपल्ली के लिए यह कसाईपन ? न, अब तो यह न हो सकेगा। जिस परमात्मा ने पेट दिया है, वह अन्न भी देगा। लानत है ऐसी नौकरी पर; और दूसरे दिन नौकरी से इस्तीफ़ा देकर वह अपने देश को चला गया।

(२)

थानेदार बरकतउल्ला लाठी चार्ज के समय चिल्ला-चिल्लाकर हुक्म दे रहे थे—‘मारो सालों को, आए हैं स्वराज लेने, लगे खूब कस-कस के’ परन्तु अपने क्वार्टर में पहुँचते-पहुँचते उनका जोश ठंडा पड़ गया। वे ज़बान के खराब अवश्य थे पर हृदय के उतने खराब न थे। दरवाज़े के अन्दर पैर रखते ही उनकी बीवी ने कहा— देखो तो, यह गफ़ूर कैसा फूट-फूटकर रो रहा है। क्या किया है आज तुमने ? बार-बार पूछने पर भी यही कहता है कि ‘अब्बा ने गोपू को जान से मार डाला है।’ मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि क्या हुआ ?

सुनते ही थानेदार साहेब सर थामकर बैठ गए। गोपाल बहुत सीधा और स्नेही लड़का था। थानेदार का लड़का और गोपाल एक ही कक्षा में पढ़ते थे और दोनों में खूब दोस्ती थी। थानेदार और उनकी बीवी दोनों ही गोपाल को अपने लड़के की ही तरह प्यार करते थे। थानेदार को बड़ा अफ़सोस हुआ, बोले—आग लगे ऐसी नौकरी में। गिरानी का जमाना है, वरना मैं तो इस्तीफ़ा देकर चल देता; पर कलू तो क्या कलू घर में बीबी-बच्चे हैं, बूढ़ी माँ है; इनका निर्वाह कैसे हो ? नौकरी बुरी जरूर है, पर पेट का सवाल उससे भी बुरा है। आज ६०) माह्वार

मिलते हैं; नौकरी छोड़ने पर कोई बीस रुपल्ली को भी न पूछेगा। पापी पेट के लिए नौकरी तो करनी ही पड़ेगी; पर हाँ, इस हाय-हत्या से बचने का एक उपाय है। तीन महीने की मेरी छुट्टी बाकी है। तीन महीने बहुत होने हैं तब तक यह तूफान निकल ही जायगा। यह सोचकर उन्होंने छुट्टी की दरखास्त दूसरे ही दिन दे दी।

(३)

उधर कोतवाल बस्तावरसिंह का बुरा हाल था। मारे रंज के उनका सिर दुखने लगा था। बस्तावरसिंह राजपूत थे। उन्होंने टॉड का राजस्थान पढ़ा था। राजपूतों की वीरता की फड़काने वाली कहानियाँ उन्हें याद थीं। चित्तौड़ के जौहर, जयमल और फत्ता के आत्म-बलिदान और राणा प्रताप की बहादुरी के चित्र उनके दिमाग में रह-रह कर चमक उठते थे। सोचते थे कि मैं समस्त राजपूत जाति की वीरता का वारिस हूँ। उनका सदियों का संचित गौरव मुझे प्राप्त है। मेरे पूर्वजों ने कभी निहत्थों पर शस्त्र नहीं चलाए, मैंने आज यह क्या कर डाला? ऐसे मारने से तो मर जाना अच्छा। पर पापी पेट जो न कराए सो थोड़ा।

इसी संकल्प-विकल्प में पड़कर उन्होंने रात को भोजन नहीं किया। आखिर भोजन करते भी तो कैसे? उस घायल बच्चे का रक्त रंजित कोमल शरीर, उसकी सकल चित्कार और उनकी हृदय को हिला देनेवाली निर्दोष, प्रश्नपूर्ण दृष्टि का चित्र उनकी आँखों के सामने रह-रहकर खिंच जाता था। उनकी याद उनके हृदय को टुकड़े-टुकड़े किए डालती थी। इस प्रकार दुखते हुए हृदय को दबाकर वे कब सो गए, कौन जाने?

सवेरे उठने पर उन्हें याद आई कि कल ही जो उन्हें तनखाह के तीन सौ रुपये मिले थे, उसे वे कोट की जेब में ही रखकर सो गए थे। कहीं किसी ने निकाल न लिये हों, इस खयाल से झटपट उन्होंने कोट की जेब में हाथ डाला और नोट निकाल कर गिनने लगे। एक-एक करके गिने; सौ-सौ के तीन नोट थे। उन पर सम्राट की तसवीर बनी

का अफसोस हो रहा था। सिपाही राम खिलावन ने अपनी कोठरी में जाकर अन्दर से दरवाजा लगा लिया और लाठी चूल्हे में जला दी। उसकी लाठी के वार से एक सुकमार बालक की खोपड़ी फट गई थी। उसने मन में कहा,— बिचारे निहत्थे और निरपराधों को कुत्तों की तरह लाठी से मारना ! राम, राम, यह हत्या ! किसके लिए ? पेट के लिए ? इस पापी पेट को तो जानवर भी भर लेते हैं। फिर हम आदमी होकर इतना पाप क्यों करे ? इस बीस रुपल्ली के लिए यह कसाईपन ? न, अब तो यह न हो सकेगा। जिस परमात्मा ने पेट दिया है, वह अन्न भी देगा। लानत है ऐसी नौकरी पर; और दूसरे दिन नौकरी से इस्तीफा देकर वह अपने देश को चला गया।

(२)

थानेदार बरकतउल्ला लाठी चार्ज के समय चिल्ला-चिल्लाकर हुक्म दे रहे थे—‘मारो सालो को, आए हैं स्वराज लेने, लगे खूब कस-कस के’ परन्तु अपने क्वार्टर में पहुँचते-पहुँचते उनका जोश ठंडा पड़ गया। वे ज़बान के खराब अवश्य थे पर हृदय के उतने खराब न थे। दरवाजे के अन्दर पैर रखते ही उनकी बीवी ने कहा— देखो तो, यह गफूर कैसा फूट-फूटकर रो रहा है। क्या किया है आज तुमने ? बार-बार पूछने पर भी यही कहता है कि ‘अब्बा ने गोपू को जान से मार डाला है।’ मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि क्या हुआ ?

सुनते ही थानेदार साहेब सर थामकर बैठ गए। गोपाल बहुत सीधा और स्नेही लड़का था। थानेदार का लड़का और गोपाल एक ही कक्षा में पढ़ते थे और दोनों में खूब दोस्ती थी। थानेदार और उनकी बीवी दोनों ही गोपाल को अपने लड़के की ही तरह प्यार करते थे। थानेदार को बड़ा अफसोस हुआ, बोले—आग लगे ऐसी नौकरी में। गिरानी का जमाना है, वरना मैं तो इस्तीफा देकर चल देता; पर कलू तो क्या कलू घर में बीबी-बच्चे हैं, बूढ़ी माँ है; इनका निर्वाह कैसे हो ? नौकरी बुरी जरूर है, पर पेट का सवाल उससे भी बुरा है। आज ६०) माह्वार

मिलते हैं; नौकरी छोड़ने पर कोई बीस रुपए की भी न पूछेगा। पापी पेट के लिए नौकरी तो करनी ही पड़ेगी; पर हाँ, इस हाय-हत्या से बचने का एक उपाय है। तीन महीने की मेरी छुट्टी बाकी है। तीन महीने बहुत होने हैं तब तक यह तूफान निकल ही जायगा। यह सोचकर उन्होंने छुट्टी की दरखास्त दूसरे ही दिन दे दी।

(३)

उधर कोतवाल बस्तावरसिंह का बुरा हाल था। मारे रंज के उनका सिर दुखने लगा था। बस्तावरसिंह राजपूत थे। उन्होंने टॉड का राजस्थान पढ़ा था। राजपूतों की वीरता की फड़काने वाली कहानियाँ उन्हें याद थीं। चित्तौड़ के जौहर, जयमल और फत्ता के आत्म-बलिदान और राणा प्रताप की बहादुरी के चित्र उनके दिमाग में रह-रह कर चमक उठते थे। सोचते थे कि मैं समस्त राजपूत जाति की वीरता का वारिस हूँ। उनका सरियों का सचित गौरव मुझे प्राप्त है। मेरे पूर्वजों ने कभी निहत्थों पर शस्त्र नहीं चलाए, मैंने आज यह क्या कर डाला? ऐसे मारने में तो मर जाना अच्छा। पर पापी पेट जो न कराए सो थोड़ा।

इसी संकल्प-विकल्प में पड़कर उन्होंने रात को भोजन नहीं किया। आखिर भोजन करते भी तो कैसे? उस घायल बच्चे का रक्त रंजित कोमल शरीर, उमकी सकल चित्कार और उनकी हृदय को हिला देनेवाली निर्दोष, प्रश्नपूर्ण दृष्टि का चित्र उनकी आँखों के सामने रह-रहकर खिच जाता था। उनकी याद उनके हृदय को टुकड़े-टुकड़े किए डालती थी। इस प्रकार दुखते हुए हृदय को दबाकर वे कब सो गए, कौन जाने?

सवेरे उठने पर उन्हें याद आई कि कल ही जो उन्हें तनखाह के तीन सौ रुपये मिले थे, उसे वे कोट की जेब में ही रखकर सो गए थे। कहीं किसी ने निकाल न लिये हों, इस खयाल से झटपट उन्होंने कोट की जेब में हाथ डाला और नोट निकाल कर गिनने लगे। एक-एक करके गिने; सौ-सौ के तीन नोट थे। उन पर सम्राट की तसवीर बनी

थी और गवर्नमेन्ट की तरफ़ से किसी के हस्ताक्षर पर लिखा हुआ था कि 'मैं माँगते ही एक सौ रुपये देने का वादा करता हूँ। रुक्का इन्दुल तलब प्रॉमिसरी नोटे,—माँगते ही एक सौ रुपये ! इसी प्रकार एक, दो, तीन-एक ही महीने में तीन सौ !! एक वर्ष में छत्तीस सौ, तीन हजार छै सौ; तीस वर्ष में एक लाख आठ हजार; हर साल तरक्की मिलेगी; फिर तीस साल के बाद पेन्शन और ऊपर से !! इसी उधेड़बुन में थे कि इतने ही में टेलीफोन की घंटी बजी। वे चट से टेलीफोन के पास गए बोले 'हैलो।' उधर से आवाज आई 'डी० एस० पी० और आप कौन हैं?' इन्होंने कहा—'शहर कोतवाल।' शहर कोतवाल का अधिकारपूर्ण शब्द उनके कानों में गूँज गया। उधर से फिर आवाज आई—'अच्छा तो कोतवाल साहब! आज ११ बजे जेल के भीतर कल के गिरफ्तार—शुदा कैदियों का मुकद्दमा होगा। उसमें आपकी गवाही होगी। आप ठीक ११ बजे पर पहुँच जाइये।' कोतवाल साहब ने कहा—'बहुत अच्छा।'

अब कोतवाल साहब अपने दफ्तर के काम में लग गए। आफिस में पहुँचते ही उनका रोज की ही तरह कुड़-कुड़ाना शुरू हो गया। कोतवाली में काम बहुत रहता है, बड़ा शहर है; दिन भर काम करते-करते पिसे जाते हैं। एड़ी—चोटी का पसीना एक हो जाता है। खाने तक की फुरसत नहीं मिलती। चौबीसों घंटे गुलामी बजानी पड़ती है तब कही तीन सौ रुपये मिलते हैं। तीन सौ में होता ही क्या है ! आज-कल तो पाँच सौ से कम में कोई इज्जतदार आदमी रह ही नहीं सकता। इसी के लिये झूठ, सच, अत्याचार क्या-क्या नहीं करना पड़ता ! पर उपाय भी तो कुछ नहीं है। इस छै फुट के शरीर को कायम रखने के लिये पेट में तो कुछ झोकना ही पड़ेगा। क्या ही अच्छा होता, यदि भगवान पेट न बनाता।' इन्ही विचारों में समय हो गया और कोतवाल साहब ठीक ११ बजे गवाही देने के लिए जेल को चल दिए।

(४)

लाठी चार्ज का हुक्म देने के बाद ही मजिस्ट्रेट राय साहब कुंदन-लाल जी को बड़े साहब का एक अर्जेंट रुक्का मिला। साहब ने उन्हें

फ़ौरन बँगले पर बुलाया था। इधर लाठी चार्ज हो ही रहा था कि उधर वे मोटर पर सवार हो बड़े साहब के बँगले पहुँचे। काम की बातों के समाप्त हो जाने पर, उन्हें लाठी चार्ज कराने के लिए धन्यवाद देने हुए बड़े साहब ने इस बात का भी आश्वासन दिया कि राय बहादुरी के लिए उनकी सिफ़ाग़िश अवश्य की जायेगी। बड़े साहब का उपकार मानने हुए राय साहब कुंदनलाल आने बँगले लौटे। उन निहत्थों पर लाठी चलवाने के कारण उनकी आत्मा उन्हीं को कोम रही थी। हृदय कहा था कि 'यह बुरा किया। लाठी चार्ज बिना करवाए भी तो काम चल सकता था। आखिर सभा हो ही जाती तो अमन में क्या खलल पड़ जाता? वे लोग सभा में किसी से मारपीट करने तो आए न थे। फिर मैं न। उन्हें लाठी से पिटा कर कौन-सा भला काम कर डाला?' किन्तु दिमाग ने उसी समय रोक कर कहा—'यहाँ भले-बुरे का सवाल नहीं है, तुमने तो अपना कर्त्तव्य पालन किया है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने कर्त्तव्य-पालन के लिए निकट सम्बन्धियों तक को मारने का उपदेश अर्जुन को दिया था; फिर तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है? अपने अफ़सर की आज्ञा का पालन करना। आतंक जमाने के लिए लाठी चार्ज कराने का तुम्हें हुक्म था। तुम सरकार का नमक खाने हो, उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। आज्ञा मिलने पर उचित-अनुचित का विचार करने की ज़रूरत ही नहीं। स्वयं धर्म-नीति के ज्ञाता भीष्म पितामह ने दुर्योधन का नमक खाने के ही कारण, अर्जुन का पक्ष सत्य होने हुए भी, दुर्योधन का ही साथ दिया। इसी प्रकार तुम्हें भी अपना कर्त्तव्य करना चाहिये; नतीजा बुरा हो चाहे भला।'

पर फिर उनके हृदय ने काटा—'न जाने कितने निरपराधों के सिर फूटे होंगे?' दिमाग ने कहा—'फूटने दो; जब तक सरकार की नौकरी करते हो, तब तक तुम्हें उसकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा और यदि आज्ञा का पालन नहीं कर सकते तो ईमानदारी इसी में है कि नौकरी छोड़ दो। माना, कि आखिर ये लोग स्वराज्य के ही लिए झगड़ रहे हैं। उनका काम परमार्थ का है, सभी के भले के लिए है; पर किया क्या जाय? नौकरी

छोड़ दी जाय तो इस पापी पेट के लिए भी तो कुछ चाहिए ? हमारे मन में क्या देश-प्रेम नहीं है ? पर खाली पेट देश-प्रेम नहीं हो सकता । आज नौकरी छोड़ दें तो क्या स्वराज्य वाले मुझे ६००) दे देंगे ? हमारे पीछे भी तो गृहस्थी लगी है; बाल-बच्चों का पेट तो पालना ही होगा । इसी प्रकार सोचते हुए वे अपने बँगले पहुँचे ।

(५)

घर पहुँचने पर मालूम हुआ की पत्नी अस्पताल गई है । लाठी-काण्ड में लड़के का सिर फट गया है । उनका कलेजा बड़े वेग से धड़क उठा । उनका एक ही लड़का था । तुरंत ही मोटर बढ़ाई, अस्पताल जा पहुँचे; देखा कि उनकी स्त्री गोपू को गोद में लिये बैठी आँसू बहा रही है । गोपू के सिर में पट्टी बँधी है और उसकी आँखें बन्द हैं । उन्हें देखते ही पत्नी ने पीड़ा और तिरस्कार के स्वर में कहा, 'यह है तुम्हारे लाठी चार्ज का नतीजा ।' उनका गला रुंध गया और आँसू और भी वेग से बह चले । राय साहब कुदनलाल के मुह से एक शब्द भी न निकला । इतने ही में डाक्टर ने आकर उन्हें सात्वना देते हुए कहा—'कोई खतरे की वान नहीं है । घाव गहरा जरूर है, पर इससे भी गहरे-गहरे घाव अच्छे हो जाते हैं । आप चिन्ता न कीजिए ।'

राय साहब ने पत्नी से पूछा,—आखिर, तुमने उसे वहाँ जाने ही क्यों दिया ? पत्नी ने कहा—'तो मुझसे पूछ के ही तो वहाँ गया था न ?'

रात भर गोपू बेहोश रहा और दूसरे दिन भी बेहोशी दूर न हुई । दूसरे दिन ११ बजे दिन से जेल में मुकद्दमा होने वाला था । परन्तु न्यायाधीश ठीक समय पर न पहुँच सके ! आज उन्हें एक मामले में, जो ३ महीने से उनकी अदालत में चल रहा था, सजा सुनानी थी । मामला था, एक १३ साल की बालिका को बेचने के लिए भगा ले जाने का । जुर्म साबित हो चुका था । न्यायाधीश के द्वारा उसे छः महीने की सख्त कैद की सजा दी गई थी ।

फैसला सुनाकर न्यायाधीश महाशय जेल आए । कोतवाल और राय साहब कुंदनलाल की गवाही हो जाने पर अभियुक्तों में से एक को दो साल की सख्त क़ैद और २०००) जुर्माना, दूसरे की डेढ़ साल की सख्त क़ैद और १५००) जुर्माना, तीसरे को एक साल की सख्त क़ैद और ५००) जुर्माना की सज़ा दे दी गई । अभियुक्तों ने मुकद्दमे में किसी प्रकार का भाग नहीं लिया और न पेशी ही बढ़वाई, इसलिए मुकद्दमा करीब एक घंटे में ही समाप्त हो गया ।

तीन अभियुक्त प्रतिष्ठित सज्जन थे और राय साहब की जान-पहचान के थे । मुकद्दमा खत्म हो जाने पर राय साहब ने उनसे माफी मांगते हुए कहा— 'क्षमा करना भाई, इस पापी पेट के कारण हम लाचार हैं, वरना क्या हमारे दिल में देश-प्रेम नहीं है ?' यह कह कर उन्होंने अपनी आत्मा को कुछ संतोष दे डाला और जल्दी-जल्दी अस्पताल आए । गोपू की हालत और भी ज्यादा खराब हो गई थी । उसकी नाड़ी क्षीण पड़ती जाती थी । राय साहब के पहुँचने पर उसने पहली ही बार आँखें खोली; उसके मुह पर हलकी सी मुस्कुराहट थी; धीमी अवाज़ से उसने कहा 'वन्देमा...। 'म्' की ध्वनि नहीं निकल पाई; 'म्' के साथ ही उसका मुह खुला रह गया । और आँखें सदा के लिए बंद हो गई । उसकी माता चीख मार कर लाश पर गिर पड़ी, राय साहब के शून्य हृदय में बार-बार प्रश्न उठ रहा था— 'यह सब किसके लिए ?' और मस्तिष्क से प्रतिध्वनि उसका उत्तर दे रही थी— 'पापी पेट के लिए ।'

६--भिखारिन

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

जाह्नवी अपने बालू के कम्बल में ठिठुर कर सो रही थी। शीत कुहासा बनकर प्रत्यक्ष हो रही थी। दो-चार लाल धाराएँ प्राची के क्षितिज में बहना चाहती थी। धार्मिक लोग स्नान करने के लिए आने लगे थे।

निर्मल की माँ स्नान कर रही थी, और वह पण्डे के पास बैठा हुआ बड़े कुतूहल से धर्मभीरु लोगों की स्नान-क्रिया देखकर मुस्करा रहा था। उसकी माँ स्नान करके ऊपर आई। अपनी चादर ओढ़ते हुए स्नेह से उसने निर्मल से पूछा—'क्या तू स्नान न करेगा ?'

निर्मल ने कहा—'नहीं माँ, मैं तो धूप निकलने पर घर पर ही स्नान करूँगा।'

पण्डा जी ने हँसते हुए कहा—'माता, अब के लड़के धर्म-पुण्य क्या जानें ? यह सब तो जब तक आप लोग हैं, तभी तक है ?'

निर्मल का मुँह लाल हो गया। फिर भी वह चुप रहा। उसकी माँ संकल्प लेकर कुछ दान करने लगी। सहसा जैसे उजेला हो गया। एक धवल दाँतों की श्रेणी अपना भोलापन बिखेर गयी—'कुछ हम को दे दो रानी माँ !'

निर्मल ने देखा, एक चौदह वर्ष की भिखारिन भीख माँग रही है, पण्डा जी झल्लाये। बीच ही में संकल्प अधुरा छोड़कर बोल उठे—'चल हट !'

निर्मल कहा—‘माँ, कुछ इसे भी दे दो।’

माता ने उधर देखा भी नहीं, परन्तु निर्मल ने उस जीर्ण मलिन वसन में एक दरिद्र हृदय की हंसी को रोते हुए देखा। उस बालिका की आँखों में एक अधूरी कहानी थी। सूखी लटों में सादी उलझन थी, और बरोनियों के अग्रभाग में संकल्प के जलबिन्दु ठटक रहे थे। कष्ट का दान जैसे होने ही वाला था।

धर्मपरायणा निर्मल की माँ स्नान करके निर्मल के साथ चली। भिखारिन को अभी आशा थी। वह भी उन लोगों के साथ चली।

निर्मल एक भावुक युवक था। उसने पूछा—‘तुम भीख क्यों माँगती हो?’

भिखारिन की पोटली के चावल फटे कपड़े के छिद्र से गिर रहे थे। उन्हें सँभालते हुए उसने कहा—‘बाबू जी, पेट के लिए।’

निर्मल ने कहा—‘नौकरी क्यों नहीं करती? माँ, इसे अपने गहाँ रख क्यों नहीं लेती हो? धनिया तो प्रायः आती भी नहीं।’

माता ने गम्भीरता से कहा—‘रख लो! कौन जाति है, कैसी है, जाना न सुना। बस रख लो!’

निर्मल ने कहा—‘माँ! दरिद्रों की तो एक ही जाति होती है।’

माँ झल्ला उठी, और भिखारिन लौट चली। निर्मल ने देखा जैसे उमड़ी हुई मेघ-माला बिना बरसे लौट गयी! उसका जी कचोट उठा। विवश था, माता के साथ चला गया।

“सुने री, निर्धन के धन राम ! सुने री—”

भैरवी के स्वर पवन में आंदोलन कर रहे थे। धूप गंगा के वक्ष पर उजली होकर नाच रही थी। भिखारिन पत्थर की सीढ़ियों पर सूर्य की ओर मुंह किये गुनगुना रही थी। निर्मल आज अपनी भाभी के संग स्नान करने आया है। गोद में अपने चार वर्ष के भतीजे को लिये वह भी सीढ़ियों से उतरा।

भाभी ने पूछा,—‘निर्मल ! आज क्या तुम भी पुण्य-संचय करोगे ?’

‘क्यों भाभी ! जब तुम इस छोटे से बच्चे को इस सरदी में नहला देना धर्म समझती हो, तो मैं ही क्यों वंचित रह जाऊँ ?’

सहसा निर्मल चौंक उठा ! उसने देखा, बगल में वही भिखारिन बठी गुनगुना रही है। निर्मल को देखते ही उसने कहा—‘बाबू जी तुम्हारा बच्चा फेंक-फूले, बहू का सोहाग बना रहे ! आज तो मुझे कुछ मिले !’

निर्मल अप्रतिभ हो गया। उसकी भाभी हँसती हुई बोली—‘दुर पगली !’

भिखारिन सहम गयी। उसके दाँतों का भोलापन गम्भीरता के परदे में छिप गया। वह चुप हो गयी !

निर्मल ने स्नान किया। सब ऊपर चलने को प्रस्तुत थे। सहसा बादल हट गये, उन्हीं अमल-धवल दाँतों की श्रेणी ने फिर याचना की—‘बाबू जी कुछ मिलेगा ?’

‘अरे, अभी बाबू जी का विवाह नहीं हुआ। जब होगा तब तुझे न्योता देकर बुला देंगे। तब तक संतोष करके बैठी रह !’—भाभी ने हँसकर कहा।

‘तुम लोग बड़ी निष्ठुर हो भाभी ! उस दिन माँ से कहा कि इसे नौकर रख लो, तो वह इसकी जाति पूछने लगी; और आज तुम भी हँसी कर रही हो ?’

निर्मल की बात काटते हुए भिखारिन ने कहा—‘बहू जी, तुम्हें देख कर मैं तो यही जानती हूँ कि व्याह हो गया है। मुझे कुछ न देने के लिये बहाना कर रही हो।’

‘भर पगली ! बड़ी ढीठ है।’— भाभी ने कहा।

‘भाभी ! उस पर क्रोध न करो। वह क्या जाने। उसकी दृष्टि में सब अमीर और सुखी लोग विवाहित है। जाने दो, घर चले।’

‘अच्छा, चलो आज माँ से कहकर इसे तुम्हारे लिये टहलनी रखवा दूंगी।’— कहकर भाभी हँस पड़ी।

युवक-हृदय उत्तेजित हो उठा, बोला,—‘यह क्या भाभी ! मैं तो इससे व्याह करने के लिए भी प्रस्तुत हो जाऊँगा। तुम व्यंग क्यों कर रही हो ?’

भाभी अप्रतिभ हो गई ! परन्तु भिखारिन अपने स्वाभाविक भोलेपन से बोली —‘दो दिन माँगने पर भी तुम लोगों से एक पैसा तो देते नहीं बना, फिर गाली क्यों देते हो बाबू ! व्याह करके निभाना तो बड़ी दूर की बात है।’ भिखारिन भारी मुह किये लौट चली।

बालक रामू अपनी चालाकी में लगा था। माँ की जेब से दुअन्नी अपनी छोटी ऊँगलियों से उसने निकाल ली; और भिखारिन की ओर फेंक कर बोला—‘लेती जाओ, ओ भिखारिन !’

निर्मल और भाभी को रामू की इस दया पर कुछ प्रसन्नता हुई; पर वे प्रकट न कर सके क्योंकि भिखारिन ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ती हुई गुनगुनाती जा रही थी—

‘सुने री, निधन के घन राम !’

७--स्वसंस्कार और सत्संग

श्री रामचन्द्र शुक्ल

जो मनुष्य स्वसंस्कार में लगा हो उसे अपने मिलने जुलने वालों के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिए, उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिए जिससे हमारी विवेचना की गति मंद हो वा भले-बुरे का विवेक क्षीण हो। जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या यह भविष्य के लिए आयोजन का स्थान नहीं है? क्या यह तुम्हारे हाथ में सौंपा हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा? सोचो तो कि दो, चार दस जितने गुण तुम्हें दिये गये हैं, उन्हें तुम्हें देनेवाले को पचास गुने सौ गुने करके लौटाना चाहिए, अथवा ज्यों के त्यों बिना व्याज या वृद्धि के। यदि जीवन एक प्रहसन ही है जिसमें तुम गा-ब्रजाकर और हँसी-ठट्ठा करके समय काटो, तब जो कुछ उसके महत्व के विषय में मैंने कहा है, सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गंभीर बातें और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति सकट में दिन काटना वाजिद अली शाह की भाँति भोग-विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँधकर चलना औरंगजेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना चाहता हूँ, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ कर्तव्यों के पालन के लिए दिया गया है, जो हमें परलोक के लिए कुछ कमाई करने के लिए दिया गया है। हमारे सामने बहुत से ऐसे लोगों के दृष्टान्त हैं जिनके विचार महान् थे। जैसा कि महात्मा

डिमेस्थनीज ने ऐथेंस-वासियों से कहा था, उसी प्रकार हमें भी अपने मन में समझना चाहिए कि 'यदि हमें अपने महान् पूर्व पुरुषों की भाँति कर्म करने का अवसर न मिले, तो हमें कम से कम अपने विचार उनकी भाँति रखने चाहिए।' अतः हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम कैसा साथ करते हैं। दुनिया तो जैसी हमारी संगति होगी वैसा हमें समझेगी ही; पर हमें अपने कामों में भी संगति ही के अनुसार सहायता वा बाधा पहुँचेगी। उसका चित्त अत्यन्त दृढ़ समझना चाहिए जिसकी चित्त-वृत्ति पर उन लोगों का कुछ भी प्रभाव न पड़े जिसका बराबर साथ रहता है। पर अच्छी तरह समझ रखो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें जान पड़े, पर उनका प्रभाव तुम पर बराबर हर घड़ी पड़ना रहेगा और उसी के अनुसार तुम उन्नत व अवनत होगे उत्साहित व हतासाह होगे! एक विद्वान् से पूछा गया—'जीवन में किस शिक्षा की सबसे अधिक आवश्यकता है?' उसने उत्तर दिया—'व्यर्थ की बातों को जानकर भी अनजान होना।' यदि हम जान-पहचान करने में बुद्धिमानी से काम लेंगे तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।

महामति बेकन कहता है—'समूह का नाम सगति नहीं है। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ लोगों की आकृतियाँ चित्रवत् हैं और उनका बातचीत झाँझ की झनकार है।' पहचान करने में हमें कुछ स्वार्थ से काम लेना चाहिए। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकने हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है; उसमें खोने के लिये समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकने हैं न अपनी सहानुभूमि-द्वारा हमें ढाढ़स बँधा सकते हैं, न हमारे आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़ मूर्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान-पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई

भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर देखने जाएँगे, नाच-रंग में जायेंगे, सैर-सपाटे में जाएँगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान-पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकले जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन-रात बनाव-सिगार में रहा करते हैं; कुलटा स्त्रियों के फोटो मोल लिया करते हैं; महफ़िलों में “ओहो-हो” ‘वाह’ ‘वाह’ किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा करते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ते चला करते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निस्सार और शोचनीय जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों दूर हैं। उनके लिए न तो संसार में सुन्दर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुन्दर आचरण वाले महात्मा हुए हैं। उनके लिए न बड़े-बड़े वीर अद्भुत कर्म कर गये हैं और न बड़े-बड़े ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड़ गये हैं जिनसे मनुष्य-जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिए फूल-पत्तियों में कोई सौन्दर्य नहीं, झरनों के कल-कल में मधुर सगीत नहीं, अनन्त सागर-तरंगों में गम्भीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शांति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इंद्रिय-विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशाओं और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन-दिन अंधकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने हृदय में ठान लिया हो, उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिए। मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी-कभी राज्य का सब काम छोड़कर अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना कर इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिए गया और उसने एक हँसमुख जवान को कोठरी से बाहर

निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—‘ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।’ पिता ने कहा,—‘हाँ ! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।’

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्बृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगति यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन-दिन अवनति के गढ़े में गिराती जायगी; और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाले बाहु के समान होगी जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इंग्लैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दरबार में जगह नहीं मिली। इसपर जिन्दगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत-से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ बुरे लोगों की संगति में पड़ता जो उनकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जिनके साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है; क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी-ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिए, चित्त पर ऐसे-ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उनकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सब लोग जानते हैं कि भेदी दिल्लगी व फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं उतनी जल्दी कोई गंभीर वा अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन में कही से एक बुरी कहावत सुन पाई थी जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे पर बार-बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद करना नहीं चाहते, वे बार-बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों में तुम्हें

फँसाना चाहें। सावधान रहो; ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा; अथवा तुम्हारे चरित्र-बल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकने वाले आगे चल कर आप सुधर जायेंगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पर पैर रखता है। धीरे-धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते-होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायगी। अन्त में होने-होने तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय की उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगति की छूट से बचो। यह पुरानी कहावत है कि:

कागज की कोठरी में कैसी हूँ सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै ॥

जो कुछ ऊपर लिखा गया है, उससे यह न समझना चाहिए कि मैं युवा पुरुषों को समाज में प्रवेश करने से रोकता हूँ। नहीं, कदापि नहीं। अच्छा समाज यदि मिले तो उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है और उससे आत्म-संस्कार के कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि गाँवों से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिए आते हैं, उनका जी बहुत दिनों तक संगी-साथी न रहने से, बहुत घबराता है और कभी-कभी उन्हें ऐसे लोगों का साथ कर लेना पड़ता है जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होने। ऐसे लोगों के लिए अच्छा तो यह होता है कि वे किसी साहित्यिक समाज में प्रवेश करें। पर वहाँ भी उन्हें सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्वशिक्षा के लिए आवश्यक है। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने एक

कोने में बैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने को समझा करते थे। भिन्न-भिन्न लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण होते हैं। यदि कोई एक बात में निपुण है तो दूसरा-दूसरी में। समाज में प्रवेश करके हम देखते हैं कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा करें; अतः हम दूसरों की भूल-चूक को क्षमा करना सीखते हैं। हम कई ठोकें खाकर नम्रता और आधीनता का पाठ सीखते हैं। इनके अतिरिक्त और बड़े-बड़े लाभ होते हैं। समाज में सम्मिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक-बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है। समाज एक परेड है जहाँ हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने सथियों के साथ-साथ मिलकर बढ़ना और आज्ञा-पालन करना सीखते हैं इनसे भी बढ़कर और-और बातें हम सीखते हैं। हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिए कुछ स्वार्थव्याग करना सीखते हैं। स्वसंस्काराभिलाषी युवक को उस चाल व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिए जो भले आदमियों के समाज में आवश्यक समझी जाती है। बड़ों के प्रति सम्मान और सरलता का व्यवहार, बराबर वालों से प्रसन्नता का व्यवहार और छोटों के प्रति कोमलता का व्यवहार भलेमानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और सुन्दर वस्तु को देखकर हम लोग प्रसन्न होते हैं। सुन्दर चाल-ढाल को देखकर हम सब लोग आनन्दित होते हैं। मीठे वचनों को सुनकर हम सब लोग सन्तुष्ट होते हैं। ये सब बातें बड़ी मनोहारी होती हैं। किसी भले आदमी को यह कहते सुनकर कि फटी पुरानी और मैली पुस्तक लेकर पढ़ते नहीं बनता, हमें हँसना नहीं चाहिए। सोचो तो कि तुम्हारी मंडली में उजड़, गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।

युवा पुरुषों को बुरे अनुभवों से बचाने के लिए सबसे सीधा और सुगम उपाय सत्संग है। अच्छे आदमियों के समाज में बैठने से जहाँ परस्पर प्रेम और शांति का आनन्द रहता है, वहाँ बड़ी भारी रक्षा रहती है। यह

निश्चय समझना चाहिए कि ऐसे बहुत कम मनुष्य मिलेंगे जो पहले-पहल प्रसन्नता के साथ बुराइयों में फँसते हों, तथा ससार की बुराइयों का अनुभव प्राप्त करते हुए जो कुछ न हिचकते हो और जिनके जी में कुछ खटका न होता हो। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश युवा पुरुष जब पहले-पहल कुमार्ग पर पैर रखने हैं, तब यदि ससार में कोई उनका हाथ पकड़नेवाला हो तो वे उससे हट सकते हैं। ससार में सब प्रकार के रंग में रहने का उपदेश तो बहुत लोग किया करते हैं और बहुत-से लोग विषय-मदमत्त भी होते हैं। पर अपनी इस मौज से आगे चलकर वे ऊब जाते हैं और सौ में निश्चयनवे मनुष्य इस मौज का लोक ग्लानि और घृणा के साथ पीटते चले जाते हैं, उन्हें उसमें कोई आनन्द नहीं रह जाता और अन्त में उनकी अत्मा इतनी जड़ हो जाता है कि उसमें सत्य और सौंदर्य का कुछ भी अनुभव नहीं रह जाता। पर इस पतित दशा में पड़ने के पहले मनुष्य अच्छी बातों के लिए छटपटाता अवश्य है और उसका यह छटपटाना सफल हो सकता है, यदि वह इस ससार के कलुषी अंधरे भागों से निकल कर किसी अच्छे परिवार व अच्छे समाज में पड़ जाय।

हमारे बड़े नगरों के युवक माधारणतः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—एक वे, जिन्होंने ससार के व्यवहारों में प्रवेश करने के पहले इस प्रकार की तैयारी नहीं की। पहले प्रकार के लोगों के लिए तो कथा-वार्ता, धर्मोपदेश आदि बहुत-से साधन मिल जाते हैं, जिससे उनके चित्त पर घर ही का सा संस्कार बना रहता है। उनके लिए किसी नये यंत्र की आवश्यकता नहीं होती। जो यंत्र उनके पास रहता है, उसी के स्वच्छंद उपयोग की आवश्यकता होती है। धर्मोपदेशकों को युवा पुरुषों को बहुत खोज-खबर रखनी चाहिए, उन्हें कुमार्ग से बचाने का उद्योग करना चाहिए। माता-पिता को भी चाहिए कि युवकों को घर से बाहर किसी अन्य स्थान पर भेजते समय ऐसा प्रवचन करें कि उनके चित्त के संस्कार शुद्ध रहे। हमारे युवा पुरुष चाहे जिस नगर में जायें, उन्हें धर्म-चर्चा सुनने का अवसर मिल सकता है, धार्मिक सज्जनों की मंडली मिल सकती है; क्योंकि भारतवर्ष के ऐसा धार्मिक देश दूसरा नहीं।

अब रह गये दूसरे वर्ग के लोग जिन्होंने परिवार में सच्चा सुख नहीं प्राप्त किया है, जो किसी कारणवश धार्मिक संस्कार से वंचित रहे हैं। ऐसों के लिए तो कोई उपाय बताना कठिन है। स्वसंस्कार का प्रयत्न यदि हृदय से करें तो ऐसे युवा पुरुष भी दुष्ट प्रलोभनों से बच सकते हैं; पर उनके लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि वे सत्संग करें। सत्संग का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इसमें से बहुत-से लोग तो समाजों और साहित्यिक संस्थाओं में सम्मिलित हो कर अपने समय का सदुपयोग कर सकते हैं और बुराईयों में पड़ने से बचे रह सकने हैं। पर बहुत से ऐसे निकलेंगे जिनकी सभा-समाजों की ओर प्रवृत्ति नहीं होगी, जिन्हें धर्मोपदेश अच्छे नहीं लगने, जो अधिक चहल-पहल और मजेदारी की बातें चाहते हैं। बहुत-से युवा पुरुष जो गलियों में टेढ़ी टोपी लगाकर निकलने हैं, जो अश्लील ठुमरी-ठप्पा गाने चलते हैं, जो दुनिया में सब तरह के मजे उड़ाने का दम भरते हैं, जो मेलों तमाशा में खूब वन-ठनकर निकलते हैं, जो महफिलों में बिना बुलाये पहुँचते हैं, उनके लिए क्या किया जा सकता है? वे समाज के काँठ हैं, वे उसी प्रकार भयंकर हैं, जिस प्रकार चोर और डाकू जिनके पीछे पुलिस तैनात रहती है। वे समाज में बड़े-बड़े अनर्थों का सूत्रपात करते हैं।

८--राजपूतनी का बदला

श्री द्विजेन्द्रलाल राय

(नाटक)

पहला दृश्य

(स्थान : मेवाड़ के राणा राजसिंह के महल का बाहरी हिस्सा।
समय : तीसरा प्रहर। ऊँचे आसन पर राणा राजसिंह बैठे हैं। सामने बच्चे को गोद में लिए जसवन्तसिंह की रानी महामाया घुटने टेके बैठी है। दाहिनी ओर मारवाड़ के सेनापति दुर्गादास और कासिम खड़े हैं।)

रानी—राणा! मेरे इस बच्चे को अपने गढ़ में स्थान दीजिए; बहुत दिनों के लिए नहीं राणा, थोड़े ही दिनों के लिए।

राजसिंह—महामाया! तुम्हारा लड़का मेरा गैर नहीं है। उसकी रक्षा के लिए यो गिड़गिड़ाने की क्या जरूरत? दुर्गादास! औरंगजेब क्या इस बच्चे के भी प्राण लेना चाहते हैं?

दुर्गादास—नहीं तो इसके पकड़ने का और क्या उद्देश्य हो सकता है, महाराणा?

रानी—एक लड़का और एक लड़की, केवल यही संपत्ति लेकर उस दिन दिल्ली से निकली थी। राह में लड़की मर गई। अब मेरी संपत्ति यही दूध-पीता बच्चा है। मेरे इस सर्वस्व, पुत्र की रक्षा कीजिये महाराणा! ईश्वर आपका भला करेंगे।

राजसिंह-पुत्र के लिए तनिक भी चिन्ता न करो, महामाया! मैं अपने प्राण देकर भी रक्षा करूँगा।

रानी-राणा की जय हो।

राजसिंह-दुर्गादास! औरंगजेब के अत्याचार की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। उन्होंने हिन्दुओं के ऊपर फिर से 'जजिया' लगाया है। उसके ऊपर मारवाड़पति जसवन्तसिंह के परिवार पर ऐसा दाहण अन्याय! देखू पत्र लिखकर शायद औरंगजेब को ठीक राह पर ला सकू।

रानी-पत्र लिखकर? अनुनय-विनय करके? घुटने टेककर? भीख माँगकर? नहीं महाराणा! इस तरह ढीले पड़कर नहीं। अब की इस बादशाहत को जड़ से उखाड़े बिना मेरे कलेजे में ठण्डक नहीं पड़ेगी।

राजसिंह-नहीं महामाया! रक्त की नदियाँ बहाये बिना यह काम नहीं हो सकता। जब एक राज्य स्थापित हो गया है, तब उसे जड़ से उखाड़ने की चेष्टा करना अन्याय है। इसमें सहस्रों मनुष्यों की हत्या होगी और प्रजा को कष्ट पहुँचेगा।

रानी-अपने देश में दूसरी जाति के राज्य की रक्षा! क्या यही क्षत्रियों का धर्म है?

राजसिंह-क्षत्रियों का धर्म केवल मार-काट करना ही नहीं है। मरने-मारने की विद्या ऊँचे दर्जे की विद्या नहीं है। किसी आर्त की रक्षा के या अपनी रक्षा के अतिरिक्त और किसी उद्देश्य से मार काट करने का नाम हत्या है। (इसके बाद कासिम की ओर देख कर) यह कौन है?

दुर्गादास-यह कासिम-उल्ला, मेरा पुराना मित्र है। इसने अपनी जान

की परवा न करके हमारे राजकुँवर की रक्षा की है।

कासिम-राणा साहब! मैं इन लोगों का पुराना नमकख्वार हूँ। सरदार (दुर्गादास) ने एक दफा बड़ी आफत से मुझको बचाया था। तब से मैं इन्हीं की गुलामी में हूँ।

राजसिंह-दुर्गादास! कासिम भी तो मुसलमान है!

कासिम-महाराणा, मेरी कौम को बुरा न कहें। मेरी कौम खराब नहीं है। हम सब हो सकते हैं, पर नमकहराम नहीं।

राजसिंह-नहीं कासिम! मैं तुम्हारी जाति की निन्दा नहीं करता, मैं तो बादशाह के साथ तुम्हारी तुलना करता हूँ। बादशाह इस छोटे बच्चे की जान लेना चाहते हैं, और तुम—

कासिम-अहा, कैसा भोला-भाला सुन्दर बच्चा है! देखने से जी चाहता है गोद में लेकर प्यार कर लें।

राजसिंह-औरंगजेब! तुम दिल्ली के सिंहासन पर बैठे एक निरीह बालक की हत्या करने के लिए व्यग्र हो रहे हो और तुम्हारी ही जाति का यह कासिम उसे प्राण देकर भी बचाने के लिए तैयार है। ईश्वर की दृष्टि में कौन बड़ा है औरंगजेब?

रानी-राणा! मैं इस भारी अत्याचार का बदला लूंगी। बदला चुकाने के लिए ही मैं उसी दिन और स्त्रियों के साथ नहीं जल मरी। इसी के लिए अब तक ज़िंदा हूँ। आप केवल इस बच्चे की रक्षा कीजिए।

राजसिंह-मैं कह चुका हूँ, इसके लिए कोई चिन्ता नहीं है। महा-

माया, तुम अपने लड़के को लेकर यहाँ बेखटके रहो।

रानी— नहीं राणा, मैं यहाँ नहीं रहूँगी। अब यह मेरा घर नहीं है। मैं अपने स्वर्गवासी स्वामी के राज्य को लौट जाऊँगी। संपत्ति और विपत्ति में, शांति और अशांति में, जीवन और मरण में स्वामी का घर है, पिता का घर नहीं। मैं मारवाड़ चली जाऊँगी।

राजसिंह—किन्तु अभी तो वहाँ तुम बेखटके नहीं रह सकती, बहन !

रानी—बेखटके ? मैं क्या यहाँ अपने लिए बेखटके जगह खोजने आई हूँ ? नहीं राणा, मैं उसे नहीं खोजती। मैं अब आपत्ति को खोजती हूँ। आपत्ति को गोद में पली हूँ, भूकम्प में मेरा जन्म हुआ है, तूफान में मेरा घर है, प्रलय के बादलों में मेरी सेज है। विपत्ति ! विपत्ति को तो मैंने अपनी सखी बना लिया है, राणा। मुझे अब और क्या विपत्ति होगी। पति मारा गया, सर्वस्व लुट गया—अब क्या विपत्ति होगी ? राणा, मेरे लिए अब एक ही विपत्ति और हो सकती है—इस बच्चे की हत्या। ओह ! इसकी रक्षा कीजिए राणा—और कुछ नहीं चाहिए, इसकी रक्षा कीजिए ! मैं मारवाड़ जाऊँगी—आग सुलगाऊँगी, आग ! ऐसी आग सुलगाऊँगी, जिसमें औरंगजेब क्या चीज है, सारा मुगलों का राज्य जलकर खाक में मिल जायगा।

(पर्दा गिरता है)

दूसरा दृश्य

(स्थान : राजपूतों की छावनी। समय : तीसरा पहर। राणा राजसिंह और महामाया दोनों बैठे हैं। सामने मुगलों के झण्डे लिये दुर्गादास और अन्यान्य खड़े हैं।)

राजसिंह-धन्य हो दुर्गादास। तुमने मुगलों को मेवाड़ से निकाल बाहर कर दिया !

रानी-धन्य हो दुर्गादास ! तुम बेगम को कैद कर लाये। आज मैं बदला चुकाऊँगी।

राजसिंह-क्या दुर्गादास, तुम बादशाह की बेगम को कैदकर लाये हो? कौन बेगम ?

दुर्गादास-काश्मीरी बेगम-गुलनार।

राजसिंह-उन्हें कैदकर लाये ? उसी घड़ी छोड़ नहीं दिया ?

दुर्गादास-राणा साहब ! मैं केवल सेनापति था। युद्ध में शत्रु के आदमियों को कैद करने भर का मुझे अधिकार था। कैदियों के छोड़ने का अधिकार राजा को होता है।

राजसिंह-जाओ दुर्गादास ! बेगम साहबा को इसी दम लुटकाया देकर इज्जत के साथ बादशाह के पास भेज दो।

रानी-क्या राणा ?

राजसिंह-स्त्री के साथ हम लोगों का कुछ झगड़ा नहीं है।

रानी-स्त्री के साथ झगड़ा नहीं है ? तो फिर मैंने क्यों आकर आपका आश्रय लिया, महाराना ? मुझे ही पकड़ने के लिए क्या यह भारी चढ़ाई नहीं हुई है ? मे इस युद्ध में पकड़ ली जाती, तो बेगम मेरे साथ क्या सलक करती ?

राजसिंह—हम मुगलों की नीति का अनुकरण करने नहीं बैठे हैं।

रानी—नहीं महाराणा! मैं इस बेगम को इस तरह न छोड़ूंगी। मैं बदला चुकाऊंगी।

राजसिंह—बदला ? किसका बदला, महामाया ?

रानी—किसका? यह पूछिए कि उसकी किस-किस हरकत का बदला न लूंगी। इस काश्मीरी बेगम ने ही मेरे पति और पुत्र को हत्या की है। काश्मीरी बेगम ही मेरे यों जगली जानवरों की तरह एक जगह से दूसरी जगह भागने फिरने का कारण है—इसका बदला लूंगी राणा! मैं उसे अपनी मुट्ठी में पाकर न छोड़ूंगी, बदला लूंगी।

राजसिंह—वया बदला लोगी?

रानी—इस बारे में अभी मैंने कुछ नहीं सोचा है राणा! इस बारे में मैं सोचूंगी। सोचकर ठीक करूँगी। उसे तिल-तिल करके जलाना भी यथेष्ट न होगा। उसके शरीर में सुइया चुभाना भी यथेष्ट न होगा। सोचकर ठीक करूँगी। नयी प्रकार की यंत्रणा के यन्त्र का आविष्कार करूँगी। स्त्री के योग्य दण्ड स्त्री ही सोच सकती है।

राजसिंह—महामाया, तुम को पाप का दण्ड देने का क्या अधिकार है? जिनका यह अधिकार है वे ही—

रानी—(उठकर) वे—? कहाँ है वे? वे हैं कहाँ? वे हाथ समेटे बैठे हैं। आकाश का वज्र मदा पापी के सिर पर ही नहीं गिरता, महाराज! पुण्यात्मा के सिर पर भी गिरता है। भूकम्प से पापी का ही घर-बार नहीं नष्ट होता; बेचारे निरीह लोगों के झोपड़े भी मिट्टी में मिल जाते हैं। प्रबल

बहिया में क्षुद्र घास-फूस ही डूबते हैं, बड़े-बड़े पेड़ वैसे ही सिर ऊँचा किये खड़े रहते हैं। ईश्वर का नियम धर्म-अधर्म का विचार नहीं करता—जहाँ जिसे दुर्बल, जीर्ण तथा पुराना पाता है, उसी की गदन पहले दबाता है।

राजसिंह—(शान्त भाव से) महामाया! जोश में आकर ईश्वर का विचार करने के लिए तैयार न होओ—निश्चय करो, ईश्वर के नियम से अन्त को अधर्म का अवश्य पतन होगा।

रानी—कब होगा? मैंने तो आज तक नहीं देखा राणा! मैंने तो आज तक यही देखा है कि सरलता सदा से चाटाकी के पैरों पड़कर भीख माँगती आई है, चालाकी ने एक बार उसकी ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं। सत्य सदा से झूठ की गुलामी करता है—आने मस्तक को ऊँचा नहीं कर सकता। मैं सदा से न्याय की जगह पर अन्याय की विजय—पताका फहराती हुई देख रही हूँ। मैं सदा से धर्म के टूटे-फूटे मन्दिर में अधर्म की विजय-ध्वनि सुनती आ रही हूँ। पुण्य के हरे-भरे राज्य के ऊपर से भयानक पाप की रक्त-रजित बहिया लहराती देख पड़ती है। घूस, अत्याचार, झूठ, विश्वासघात आदि से पृथ्वी परिपूर्ण हो रही है। तब भी तुम कहते हो, अन्त में धर्म की जय होगी! कब होगी? बतलाओ, कब होगी?

राजसिंह—शान्त होओ, महामाया! अपने को सँभालो, धैर्य धारण करो।

रानी—धैर्य? राणा, यदि स्त्री होते और तुम्हारा पति परदेश में विश्वासघातक के हाथों विष देकर मारा जाता, यदि बेदर्दी के साथ तुम्हारे सरल, उदार पुत्र की हत्या की जाती, यदि मेरी तरह नन्हें—से निस्सहाय एवं निरीह बच्चे को लेकर एक देश से दूसरे देश में आकर भिक्षु की तरह द्वार-द्वार मारे-मारे फिरना पड़ता, तो आप समझते। धैर्य! नहीं राणा—मैं उस पापिन को यों न छोड़ूंगी।

राजसिंह—दुर्गादास! जीते-जी मैं अबला के ऊपर अत्याचार होते न देख सकूंगा। जाओ, तुम सम्मान के साथ बेगम को बादशाह के पास पहुँचा दो।

दुर्गादास—क्षमा कीजिए, महारानी! युद्ध में हम सब राणा साहब के अनुचर हैं। बेगम आज मेवाड़ के राणा के यहाँ क्रौंद है, मारवाड़ की, रानी के यहाँ नहीं। महारानी! अपने को न भूलिए। आप हा की रक्षा के लिए राणा ने यह युद्ध किया है। राणा आपके हितचिंतक है। उनकी आज्ञा मानना आपका धर्म है।

रानी—(कुछ देर चुप रहकर) तुम सच कहते हो, दुर्गादास! (फिर राणा के सामने घुटने टेककर) राणा! क्षमा कीजिए। हृदय के शोक के वेग से अधीर होकर मैं पागलों-सी हो गई, क्षमा कीजिए। किन्तु यदि आप इस तीव्र वेदना, इस दारुण ज्वाला, इस गहरी जी की जलन को जान सकते? मैं पागल हो रही हूँ। क्षमा कीजिए।

राजसिंह—मैं पहले क्षमा कर चुका हूँ, महामाया। मैं चाहता हूँ कि जो क्षमा तुम ने मुझसे माँगी है, वहाँ क्षमा तुम बेगम का दिखलाओ। मैं विचार के लिए बेगम को तुम्हारे पास छोड़ जाता हूँ। उसे क्षमा करो, अपना महत्व दिखलाओ। महामाया! स्नेह, दया, भक्ति, क्षमा आदि गुणों से ही स्त्री जाति पूजनीय है। ये गुण ही अबला को शक्ति हैं। और यदि तुम दण्ड ही देना चाहती हो तो सोचो तो, तुमने अपने ऊपर अत्याचार करनेवाले को यदि हँसते-हँसते क्षमा कर दिया, तो क्या यह उसके लिए कम दण्ड है!

रानी—ठीक है। बेगम को ले आओ दुर्गादास!

(दुर्गादास का प्रस्थान)

राजसिंह—अच्छा, मैं तुम्हारी दया के ऊपर बेगम को छोड़कर जाता हूँ महामाया।

(राणा का प्रस्थान)

रानी—यह ठीक है! इस न्याय-आसन पर बैठकर मैं उसका विचार करूँगी। इतना ही यथेष्ट है। भारत की साम्राज्ञी, औरंगजेब की बेगम, मेरे पति तथा पुत्र की हत्या करनेवाली डायन, आज मेरे सामने अपराधी कैदी की दशा में खड़ी होगी, मैं सिंहासन पर बैठे-बैठे उसके मुँह की ओर देखकर उसे प्राणों की भिक्षा दूँगी। यह क्या बुरा है—! वह आ रही है। इस समय भी मुह पर वही ऐंठन, नज़र में वही घमण्ड चाल में वही अहंकार है। जगदीश्वर! पाप इतना उज्ज्वल और विचित्र!

(बेगम गुलनार के साथ दुर्गादास का प्रवेश)

रानी—सलाम बेगम साहबा !

गुलनार—जसवन्तसिंह की रानी ?

रानी—हाँ! जिसे पकड़ने के लिए इतनी तैयारी से यह चढ़ाई हुई थी—वही जसवन्तसिंह की रानी। आपने मेरे पति और पुत्रों को खा लिया। इससे भी राक्षसी पेट नहीं भरा! अब मुझे और मेरे छोटे बच्चे को भी खाना चाहती हो। क्या इसी बीच में सब भूल गई? इतनी भूल करने से काम कैसे चल सकता है बेगम साहबा ?

गुलनार—(दुर्गादास से) तुम्हीं दुर्गादास हो?

दुर्गादास—हाँ, बेगम साहबा !

रानी—मेरे यहाँ आपका विचार होगा।

गुलनार—कहाँ किस के आगे?

रानी—मेरे यहाँ, मेरे आगे। बात जरा रूखी और बेढंगी जान पड़ती

होगी, क्यों? क्या कीजिएगा चक्र घूम गया है बेगम। क्या ! दुर्गादास की ओर इतना गौर आप क्यों कर रही हैं? सोचती होंगी इस काफिर की इतनी मजाल कि आपको कैद कर लावे! यही सोचती है न? अब आप कौन-सी सजा पसन्द करती हैं?

गुलनार—मैं तुम्हारे यहाँ कैद हूँ; जो जी चाहे करो।

रानी—जो जी चाहे वही करूँ? बेगम साहबा, मेरे मन की सजा तो तुम्हारे लिए बहुत ही कठिन होगी। मेरी जो इच्छा है, वह दण्ड तुम्हारे लिए असह्य होगा। तुम उसे सह न सकोगी। वह बड़ी ही कड़ी सजा है। उसके आगे नरक की ज्वाला वसन्त वायु के समान है। सैकड़ों बिच्छुओं के काटने की जलन भी उसके आगे झरने के पानी के समान शीतल है। मेरा जो जी चाहे? मेरा क्या जी चाहता है, जानती हो बेगम?—खैर जाने दो—यदि तुम मुझे पकड़ मँगवाती, तो क्या करतीं बेगम साहबा?

गुलनार—क्या करती? तुमको अपने पैरों की धोवन पिलाती। उसके बाद मरवा डालती।

रानी—अभी तक तेज नहीं गया! विष का दाँत उखड़ गया परन्तु फुफकार कम नहीं हुई! बेगम साहबा, खेद है, तुम्हारी आशा पूरी नहीं हुई। आज मुझे तुम्हारे आगे इस तरह खड़ा होना चाहिए था, क्यों? पर क्या किया जाय, तुमको ही मेरे आगे इस तरह खड़ा होना पड़ा। देखो। गुलनार! सुनो बादशाह की बेगम! आज तुम मेरी मुट्ठी में हो। चाहें तो मैं तुमको पैर की धोवन भी पिला सकती हूँ। किन्तु मैं वह न करूँगी। मैं तुम्हें छोड़ देती हूँ। सेनापति! इनको बादशाह के पास पहुँचा आओ। (गुलनार से) खड़ी हुई हो! विस्मय हुआ! राजपूतों का यही बदला है।

(यवनिका पतन)

९--चरित्र--पालन

श्री बालकृष्ण भट्ट

चरित्र में कहीं पर किसी तरह का दाग न लगने पावे इस बात की चौकसी का नाम चरित्र-पालन है। हमारे लिए चरित्र-पालन की आवश्यकता इसलिए मालूम होती है कि चरित्र को यदि हम सुधारने की फिकर न रखें तो उसे बिगड़ते देर नहीं लगती, जैसे उर्वरा फलवन्त धरती में लम्बी-लम्बी घास और कटीले पेड़ आप से आप उग आते हैं और अन्न आदि के उपकारी पीधे बड़े यत्न व परिश्रम के उपरान्त उगते हैं। सच तो यों है कि त्रिगुणात्मक-प्रकृति ने चरित्र में विकार पैदा कर देनेवाले, इतने तरह के प्रलोभन संसार में उपजा दिये हैं, जिनसे आकर्षित हो मनुष्य बात की बात में ऐसा बिगड़ जा सकता है कि फिर यावज्जीवन किसी काम का नहीं रहता। महल के बनाने में कितना यत्न और परिश्रम करना पड़ता है पर जब वह बनकर तैयार हो जाता है तो उसे ढहाते देर नहीं लगती। इसी बात पर लक्ष्य कर कवि-शिरोमणि कालिदास ने कहा है—

“जो बातें विकार पैदा करने वाली हैं उनके होते हुए भी जिनके मन में विकार न पैदा हो, वे ही धीर हैं*।” महाकवि भारवि ने भी कहा है—

“निर्मल प्रकृतिवालों में काल की कुटिलता के कारण जो विकार

* “विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि स एव धीराः”

पैदा होते हैं, वे चिरस्थायी नहीं रहते । १ चरित्र-रक्षा एक प्रकार की सन्दली जमीन है जिस पर यश-सौरभ इत्र के समान बनाये जा सकते हैं । अर्थात् जैसे गन्धी सन्दल का पुट देकर हर किस्म का इत्र उसमें से तैयार करता है वैसे ही चरित्र जब आदमी का शुद्ध है तो वह हर तरह की योग्यता प्राप्त कर सकता है । शुद्ध-चरित्रवाला मनुष्य सब जगह प्रतिष्ठा पाता है और वह जिस काम में सन्नद्ध होता है उसी में पूर्ण योग्यता को पहुँच हर तरह सरसब्ज होता है । यथा—

“मंला कपड़ा पहने हुआ मनुष्य जहाँ चाहता है, वहाँ बैठ जाता है, कपड़ों में दाग़ लग जाने का ख़याल उस आदमी को बिलकुल नहीं रहता । उसी तरह चलित-वृत्त अर्थात् जिसके चाल-चलन में दाग़ लग गया है वह फिर बाकी अपने और चरित्रों को भी नहीं बचा सकता, वरन् वह नित्य-नित्य बिगड़ता जाता है ।” * मन, जिह्वा और हाथ का निग्रह चरित्र-पालन का मुख्य अंग है । जिन्होंने मन को कुपथ पर जाने से रोका है, जीभ को दूसरे की चुगली-चबाई से रोका है और हाथ को दूसरे की वस्तु चुराने से या बेईमानी से ले लेने में रोक रक्खा है, वही चरित्र-पालन में दूसरों के लिए उदाहरण हो सकता है । ऐसा मनुष्य कसौटी में कसे जाने पर खरा निकलेगा ।

कुलीन समझदार साक्षर के लिये चरित्र में दाग़ लगना ऐसी ही बुरी बात है कि उसे अपना जीवन भी बोझ मालूम होने लगता है । किसी कवि ने कहा है कि—“विन्ध्य पहाड़ के वन में भूखा-प्यासा ही मर जाना अच्छा, तिनकों से ढके, सर्पों से भरे कुएँ में गिर कर प्राण दे देना श्रेष्ठ,

१ “विक्रया न खलु कालदोषजा
निर्मल प्रकृतिषु स्थिरोदया ॥”

* यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ।
एवं चलितवृत्तस्तु, वृत्तशेषं न रक्षति ॥

पानी के भँवर में डूब कर विला जाना उत्तम है, पर शिष्ट पढ़े-लिखे मनुष्य का चरित्र से च्युत हो जाना अच्छा नहीं।” *

रूपया-पैसा हाथ का मैल है, आता-जाता रहता है; किन्तु गई बात फिर नहीं बनती, इसीलिए धन का दरिद्र, यदि वह सुचरित्र में आढ्य हो तो दरिद्र नहीं कहा जा सकता। जिनके आँख का पानी ढरक गया है, उनको चरित्र-पालन कोई बड़ी बात नहीं है और न इसकी कुछ कदर उन्हें है, किन्तु जो चरित्र को सबसे बड़ा धन माने हुए है वे अत्यन्त संयम के साथ बड़ी सावधानी से ससार में निबाहते हैं। यावत् धर्म, कर्म और परमार्थ-साधन, सब का निचोड़ वे इसी को मानते हैं। ऐसे लोग जन-समाज में बहुत कम पाये जाते हैं, हजारों में कहीं एक ऐसे होते हैं और ऐसे ही लोग समाज के अगुवा, राह दिखलाने वाले, आचार्य, गुरु, रसूल या पैगम्बर हुए हैं और आप्त तथा शिष्ट माने गये हैं। उनका एक-एक शब्द जो मुख से निकलता है तथा उनका उठना-बैठना चलना-फिरना, अलग-अलग चरित्र-पालन में उदाहरण होता है। जो प्रतिष्ठा बड़े से बड़े राजाधिराज सम्राट बादशाह शाहंशाह को दुर्लभ है, वह चरित्रवान् को सुलभ है और यह प्रतिष्ठा चरित्र-पालन वाले को सहज ही मिल गई हो सो नहीं, वरन् सच कहिये यह असिधारा-व्रत है, संसार के अनेक सुखों को लात मार बड़े क्लेश उठाने के उपरान्त मनुष्य इसमें पक्का हो सकता है।

चरित्र से बहुत मिलती हुई दूसरी बात शील है। शील का चरित्र ही में अन्तर्भाव हो सकता है। चरित्र-पालन में चतुर, शील-संरक्षण में भी प्रवीण हो सकेगा; किन्तु शील-संरक्षण में विलक्षण मनुष्य चरित्र-पालन में

* वरं विन्ध्याटव्यामनशतृषातंस्य मरणम्,
 वरं सर्पाकीर्णं तृणपिहि कृपे निपतनम् ।
 वरं गतवित्तं गहनजलमध्ये विलयनम्,
 नशीलाद्विभ्रंशो भवतु कुलजस्य श्रुतवतः ॥

प्रवीण हो, यह आवश्यक नहीं। अँग्रेजी में शील के लिये 'कांडक्ट' (conduct) और चरित्र के लिए 'केरेक्टर' (character) शब्द हैं। आदमी की बाहरी चाल-चलन का सुधार शील या 'कांडक्ट' अथवा 'बिहेवियर' (behaviour) कहा जायगा, किन्तु मनुष्य का अभ्यन्तर शुद्ध जब तक न होगा तब तक बाहरी सभ्यता 'चरित्र' नहीं कहलावेगी। श्री रामचन्द्र युधिष्ठिर, बुद्धदेव, तथा महात्मा ईसा के चरित्र-पालन का वैसा ही असर होता है जैसा रक्त-संचालन का शरीर पर।

सुस्निग्ध पुष्ट भोजन से जो रुधिर पैदा होता है वह शरीर को पुष्ट और नीरोग रखता है, वैसे ही जिस समाज में चरित्र-पालन की कदर है और लोगों को इसका खयाल है कि हमारा चरित्र दगीला न होने पावे, वह समाज पुष्ट पड़ता जाता है और उत्तरोत्तर उसकी उन्नति होती जाती है। जिस समाज में चरित्र-पालन पर किसी की दृष्टि नहीं है और न किसी को "चरित्र किस तरह बनता व बिगड़ता है" इसका कुछ खयाल है उस बिगड़े समाज का भला क्या कहना? कुपथ्य भोजन से विकृत-रुधिर पैदा होकर जैसा शरीर को व्याधि का आलय बना, नित्य उसे क्षीण और जर्जर करता जाता है वैसे ही लोगों के कुचरित्र होने से समाज नित्य क्षीण, निःस व और जर्जर होता जाता है। जिस समाज में चरित्र की बहुतायत होगी, वह समाज सर्वोपरि दीप्यमान होकर, देश और जाति की उन्नति का द्वार होगा। हमारी प्राचीन आर्यजाति चरित्र की खान थी जिनके नाम से इस समय हिन्दू मात्र पृथ्वी भर में विख्यात हैं। अफ़सोस! जो क़ौम किसी समय दुनिया के सब लोगों के लिए चरित्र-शिक्षा में नमूना थी, वह आज दिन यहाँ तक गई-बीती हो गई कि दूसरे से सभ्यता और चरित्र-पालन की शिक्षा लेने में अपना अहोभाग्य समझती है! समय खिलाड़ी ने हमें अपना खिलौना बनाकर जैसा चाहा, वैसा खेल खेला। देखें आगे अब वह कोन खेल खेलता है।

१०--दो--दो बातें

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय

कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नहीं, बहुत कुछ थे। देवता हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग में हमारी धूम थी, और धरती हमारे उधारने से ही उधरती थी। हम आसमान में उड़ते समुद्र को छानते, जंगलों को खंगालते, और पहाड़ों को हिला देते थे, दुनियाँ में हमारे नाम लेवा थे, देश-देश में हमारी धाक थी, दिशाएँ हमारी जोत से जगमगाती थी और आसमान के तारे हमें आँख फाड़-फाड़ कर देखते थे। हम अधिकार में उजाला करते थे, बन्द आँखों को खोलते थे, सोतों को जगाते थे, और उकठे काठ को भी हरा-भरा बना देते थे। सूरमापन हम पर निछावर होता था, दिलेरी हमारे बाँट में पड़ी थी, बहादुरी हमारा दम भरती थी, और आनबान हमारा बाना था। हम बेजान में जान डालते थे, सूखी नसों में लहू भरते थे, बिगड़ों को बनाते थे, गिरों को उठते थे, बेजड़ों की जड़ जमाते थे, और भूलों को राह पर लगाते थे। बड़े-बड़े अठकपाली हमारे सामने अपना अठकपालीपन भूल जाते थे हमारा तेवर बदलते ही बेतरह आँख बदलने वाले राजा-महाराजाओं का रंग बदल जाता था, और दुनियाँ में हवा बाँधने वालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगती थीं। आज ये बातें मुँह पर नहीं लाई जा सकतीं। अब हमारा रंग इतना बिगड़ गया है कि हम पहचाने भी नहीं जा सकते। हमी लोगों में ऐसे लोग हैं जो यह जानते ही नहीं कि हम, क्या और कौन थे और अब क्या हो गये ? इसमें न किसी का जादू काम कर रहा है, और न किसी का टोना, न दैव हमारे पीछे पड़ा है, न बुरा भाग, जो कुछ हम भोग रहे हैं, वे हमारी करतूतों के फल हैं और आज भी वे हमें रसातल ले जा रही हैं।

आज दिन हमारे सिरधरों का नही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलने वाले भी आग लगा रहे हैं, और भगवा पहनने वाले भी भांग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, भाइयों की मूँछें उखाड़ कर मूँछ मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रंग कर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, सगों का पेट काट कर अपना पेट पाल रहे हैं, और बेबसों के घर को जला कर अपने घर में घी के दिये बाल रहे हैं। पूंजी वालों का पेट दिन-दिन मोटा हो रहा है, पर किसी सटे पेट वाले को देखते ही उनकी आँख पर पट्टी बँध जाती है। संडे-मुसंडे डंडे के बल माल भले ही चाब लें, पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही हैं, उनको वे कानी कौड़ी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुँह देखकर जीते हैं, हम उन्हीं को निगल रहे हैं, और जो हमारे भरोमे पर पाँव फँला कर सोते हैं हम उन्हीं को आँखें बन्द करके लूट रहे हैं। हमी में डूब कर पानी पीने वाले हैं, आँख में उँगली करने वाले हैं, खड़े बाल निगलने वाले हैं, आग लगाकर पानी को दौड़ाने वाले हैं, रँगे सियार हैं, भीगी बिल्ली और काठ के उल्लू हैं।

आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़कर बैठी है, बैर अकड़ा हुआ खडा है, अनबन की बन आई है और रगड़े-झगड़े गुलछरें उड़ा रहे हैं। हम से लम्बी-लम्बी बातें सुन लो, लम्बी डींगें भरने की कहानियाँ कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है। आँख होते हमें सूझता नहीं, कान होते हम सुनते-नहीं, हाथ होते हम बेहाथ हैं, और पाँव होते बेपाँव। समझ चल बसी, विचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गई, सूझ को पाला मार गया, मगर कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। दूसरे धूल में फूल लगाते हैं, हमें फूलों में भी धूल ही हाथ आती है। लोग काँटों में फल चुनते हैं, हम काँटों में उलझ-उलझ मरते हैं। आबरू उतर गई, पत-पानी चला गया, बड़ाई धूल में मिल गई, मगर हम धूल फाँकने में ही मस्त हैं।

हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँखों के तारे भी नहीं देते। हम पर लगा कर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी

नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को बदरंग कर देती है, हम राग अलापते हैं मेल-जोल का, मगर न जाने कहाँ का षटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति-जाति को मिलाते चलते हैं, मगर अछूतों से आँख मिलाते नहीं। हम जाति-हित की ताने सुनाने के लिए सामने आते हैं, मगर ताना दे-दे कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिन्दू-जाति को एक रंग में रँगना चाहते हैं, मगर जाति-पाँति के अपनी-अपनी डफली और अपने-अपने राग ने रही-सही एकता को ही धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचा उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मिटना आता ही नहीं।

हमारी जाति अपने भूल-भुलैयाँ में बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में फफोले पड़ रहे हैं। जितनी ही जल्द हमारी आँखें खुलें, उतना ही अच्छा, हमें उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें बनाना, उन्हें खिझाना, उनकी उमंगों को मटियामेट करना पसंद नहीं, अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाड़ी कौन मारेगा, अपनी उँगलियों से अपनी आँखों को कौन कुचलेगा? मगर अपनी बुराइयों, भूल-चूकों, ऐबों, लापरवाहियों और नासमझियों पर आँख डालनी पड़ेगी, बिना इसके निर्वाह नहीं।

११--अंगुलिमाल डाकू

बौद्ध कथाओं से

प्रसेनजित् के राज्य में चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। नगर उजड़ गये थे, गाँव लुट गये थे, न किसी के मन में शान्ति, और न किसी के मन में संतोष। जिसको देखिये वही भय से समाकुल। बच्चे, जवान-बूढ़े सभी का कलेजा अंगुलिमाल डाकू के नाम ही को सुनकर पत्ते की भाँति काँप उठता था।

उस समय गौतम श्रावस्ती के जेतवन में निवास कर रहे थे। गौतम के कानों में भी अंगुलिमाल के अत्याचारों की आवाज़ पड़ी। बस फिर क्या था। खूंखार सिंह को भी तोते की तरह मीठी बोली बोलना सिखा देनेवाले योगी गौतम, पात्र और चीवर लेकर आश्रम से निकल पड़े।

मार्ग में चरवाहों, किसानों और राहगीरों ने देखा—श्रमण गौतम उसी ओर अकेले बढ़े जा रहे हैं, जहाँ दुर्दान्त अंगुलिमाल निवास करता है।

सबों का कलेजा जैसे ओठों पर आ गया। एक सूखी हुई हड्डियों का मनुष्य वहाँ जाकर कैसे बचेगा जह। मनुष्यों के मिले हुए दल की भी जानें की हिम्मत नहीं पड़ती। शायद श्रमण गौतम को डाकू के दुर्दांत प्रताप की खबर नहीं। सबों ने बारी-बारी से गौतम को टोककर कहा—न जाओ भाई, इस रास्ते से। आगे अंगुलिमाल डाकू का निवासस्थान है। वह बड़े-बड़े वास्त्रधारियों को भी केवल क्षणमात्र में अपने काबू में कर लेता है। उसके सामने जाते हुए बड़े-बड़े सूरमा सिपाही तक काँपा करते हैं।

पर गौतम कब मानने लगे ? वे बराबर उसी ओर आगे बढ़ते ही गये।

जंगल के सघन भाग में अंगुलिमाल का स्थान है। कोई वहाँ जाने का नाम भी नहीं लेता। एक दुबले-पतले संन्यासी को अपने स्थान की ओर आते हुए देखकर अंगुलिमाल के विस्मय का ठिकाना न रहा। साथ ही उसके क्रोध की आग भड़क उठी। एक दुबले-पतले, निर्जीव संन्यासी का इतना साहस ! वह अकेला इठलाता हुआ अंगुलिमाल के स्थान की राह से आगे निकल जाए। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं अभी उसे एक क्षण में मार कर भूमि पर गिरा दूँगा।

अंगुलिमाल धनुष पर तीर चढ़ाकर गौतम के पीछे चल पड़ा। उसे क्या मालूम था कि मेरे इस धनुष-बाण से गौतम के योग-अस्त्र कहीं अधिक तीखे हैं। गौतम ने अंगुलिमाल को धनुष पर बाण चढ़ाये हुए अपने पीछे आते देखा। बस, योग का एक अस्त्र फेंका और अंगुलिमाल की गति रुक गई।

अंगुलिमाल घबड़ाया—उसे विस्मय हुआ। ओह, यह क्या ? मैं इतनी तेज़ी के साथ दौड़ने पर भी उस संन्यासी तक क्यों नहीं पहुँच रहा हूँ ? आज मुझे क्या हो गया है ? दूसरे दिन तो मैं तेज़ दौड़नेवाले हाथियों को भी क्षणमात्र में अपना शिकार बनाता था।

अंगुलिमाल अपनी शक्ति का हर एक तरह से प्रयोग करके लाचार हो गया। अब उससे न रहा गया। उसने गौतम को पुकार कर कहा—
संन्यासी, खड़ा रह।

‘मैं तो खड़ा हूँ अंगुलिमाल !’ गौतम ने उत्तर दिया—‘और तू चल रहा है। फिर तू मुझ तक क्यों नहीं पहुँच रहा है ? कैसे आश्चर्य की बात है !’

अंगुलिमाल ने गौतम को पुकारकर कहा—‘संन्यासी खड़ा रह ।’ मैं, तो खड़ा हूँ अंगुलिमाल !’ गौतम ने उत्तर दिया ।

अंगुलिमाल चौंका—उसे विस्मय हुआ । संन्यासी तो झूठ नहीं बोलते, मगर यह झूठ बोल रहा है। आगे दौड़ा जा रहा है और कहता है, मैं तो खड़ा हूँ। अंगुलिमाल ने विस्मय के स्वर में कहा—संन्यासी, तू झूठ बोल रहा है। तू तो आगे भागा जा रहा है और फिर कहता है मैं खड़ा हूँ।

‘हाँ, मैं खड़ा हूँ अंगुलिमाल !’ गौतम ने उत्तर दिया—‘तुम्हारी आँखें हिंसा, लोभ, पाप और असत्य की भावनाओं से भरी हुई हैं। इसलिए तुम्हें सच्ची बात भी झूठी मालूम होती है।’

गौतम की इस बात की डाकू के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने घनुष-बाण नाले में फेंक दिया और उनके चरणों की वन्दना करके कहने लगा—‘भगवन्, मैं आपकी शरण में हूँ। मेरा उद्धार कीजिए।’

गौतम ने उसके सिर पर अपना कृपा का हाथ रखकर उसे भिक्षु बना लिया। इधर गौतम अंगुलिमाल को भिक्षु रूप में लेकर श्रावस्ती लौटे और उधर प्रसेनजित् के राजनिवासियों ने राजधानी में एकत्रित होकर यह कोलहल मचाया कि अंगुलिमाल डाकू के उद्दण्ड प्रताप से प्रजा मरी जा रही है। अनेक नगर बरबाद हो गये हैं। सैकड़ों गाँव लूट लिए गये हैं। करोड़ों मनुष्यों की जानें तलवार के घाट उतार डाली गई हैं। अब हम लोग कहाँ जाएँ, किसकी शरण ढूँढ़ें ? उसने अपने राक्षसी काण्डों से चारों ओर कुहराम मचा दिया है।

प्रजा की यह पुकार सुनकर प्रसेनजित् के कोप की सीमा न रही। वह पाँच सौ घुड़सवारों के साथ अंगुलिमाल के दमन के लिए निकल पड़ा। उस समय भिक्षु रूप अंगुलिमाल के साथ गौतम श्रावस्ती के जेतवन में ठहरे

हुए थे। प्रसेनजित् ने उसी बर्गीचे में पहुँचकर डेरा डाला।

गौतम ने प्रसेनजित् को पाँच सौ घुड़सवारों के साथ यात्रा के लिए निकला हुआ देखकर कहा—राजन्! आप इस वेश में कहाँ जा रहे हैं? किसी प्रचण्ड शत्रु ने राज्य की सीमा पर आक्रमण तो नहीं किया है?

‘नहीं भगवन्।’—प्रसेनजित् ने उत्तर दिया—‘किसी शत्रु ने आक्रमण नहीं किया है, बल्कि अंगुलिमाल नामक एक डाकू के अत्याचारों से इस समय राज्य में चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुची हुई है। इस समय उसी का सर्वनाश करने के लिए अपने घर से निकला हूँ।’

गौतम मुस्कराये। कुछ देर तक चुप रहे। फिर बोल उठे—राजन् यदि अंगुलिमाल आप के सामने बौद्ध भिक्षु के रूप में उपस्थित हो, तो आप उसके साथ कैसा व्यवहार करेंगे?

‘मैं उस समय उसकी पूजा करूँगा भगवान्’—प्रसेनजित् ने उत्तर दिया—‘मैं उसे घर पर सप्रेम निमन्त्रित कर भोजन कराऊँगा? मगर विश्वास नहीं होता कि अंगुलिमाल जैसा दुर्दात और हिंसक मनुष्य भी कभी बौद्ध-भिक्षु हो सकता है।’

‘संसार में कोई काम असम्भव नहीं राजन्!’—गौतम ने कहा—‘देखो, वह भिक्षु-वेश में बैठा हुआ नया श्रमण अंगुलिमाल ही है।’

राजा के आश्चर्य की सीमा न रही। उसने भिक्षु के पास जाकर कहा—महाभाग! क्या तुम्ही अंगुलिमाल हो?

‘हाँ राजन्’—भिक्षु ने उत्तर दिया—‘मैं ही हूँ डाकू अंगुलिमाल।’

राजा प्रसेनजित् श्रद्धापूर्वक अंगुलिमाल की परिक्रमा कर राजधानी लौट गया ।

कुछ ही दिन बीत पाये थे कि एक दिन अंगुलिमाल पात्र और चीवर लेकर भिक्षा-वृत्ति के लिए श्रावस्ती में गया । वह नगर में घूम रहा था, सहसा एक कंकड़ आकर उसके सिर में लगा । सिर फट गया, रक्त की धारा-सी बह चली । अभी उस चोट को अंगुलिमाल संभाल भी न पाया था कि दूसरी ओर से एक पत्थर का टुकड़ा सन-सनाता हुआ आया और उसके सिर को फोड़कर भूमि पर गिर पड़ा । अंगुलिमाल लहू से सन गया । उसके सारे कपड़े रक्त से लाल हो गये । जिसने उसे इस वेश में देखा उसी ने कहा— आह ! बड़ी चोट लगी । पर अंगुलिमाल के मुख से आह और कराह का एक शब्द भी न निकला ।

रक्त में सना, अंगुलिमाल हाथ में टूटा हुआ पात्र लेकर गौतम के पास पहुँचा । गौतम ने उसे देख कर कहा— 'भिक्षुक ! आज तुम्हारा प्रायश्चित्त पूरा हुआ ।'

'प्रायश्चित्त पूरा हुआ'—गौतम के मुख से यह शब्द सुन कर अंगुलिमाल ऐसा प्रफुल्लित हुआ, मानों उसके हाथों में किसी ने मुक्ति की माला रख दी हो ।

१२—सभ्य बनने के प्रयत्न में

महात्मा गांधी

अब तक मेरे विषय में मित्र की चिंता दूर नहीं हुई थी। उन्होंने प्रेमवश यह मान लिया था कि मांसाहार न करने से मैं कमजोर हो जाऊँगा; इतना ही नहीं बल्कि 'भौदू' रह जाऊँगा, क्योंकि मांसाहार न करने से अंग्रेज़-समाज में मिल-जुल न सकूँगा। मेरे अन्नाहार-संबंधी पुस्तकें पढ़ने का उनको पता था। उन्हें शंका हुई कि इन विषयों को पढ़ कर मैं सनक जाऊँगा और प्रयोगों में मेरा जन्म व्यर्थ जायगा। मैं कर्तव्य-च्युत हो जाऊँगा और एक पढ़ा-लिखा मूर्ख ही रहूँगा।

पर अब मेरे मन में यह आया कि मुझे उनकी परेशानी दूर कर देनी चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं अपने को जंगली न कहलाने दूँगा, सभ्यों के लक्षण सीखूँगा और दूसरी तरह से समाज में सम्मिलित होने के योग्य बन कर अपनी अन्नाहार की विचित्रता पर पर्दा डालूँगा। इसलिए अब मैंने 'अंग्रेज़ी सभ्यता' सीखने का मार्ग पकड़ा।

मेरे कपड़े थे तो विलायती, परन्तु बम्बई-काट के थे। वे उच्च अंग्रेज़-समाज में न फबेंगे इस विचार से 'आर्मी और नेवी' स्टोर में दूसरे कपड़े बनवाये। उन्नीस शिलिंग की 'चिम' की हैट (टोपी) ली। इससे भी संतोष न हुआ तो बाँड स्ट्रीट में, जहाँ शौकीन लोगों के कपड़े सिलते थे, दस पौंड को दियासलाई दिखा कर शाम को पहनने के कपड़े बनवाये। सीध और शाहदिल बड़े भाई से खास तौर पर दोनों जेबों में लटकाई जाने वाली असली सोने की चेन मँगवाई। वह भी आई। तैयार बँधी

टाई पहनने का रिवाज न था। इसलिए टाई बाँधने की कला सीखी। देश में तो आइना सिर्फ हजामत के दिन ही देखने का काम पड़ता था; पर यहाँ तो बड़े आइने के सामने खड़े रह कर टाई ठीक-ठीक बाँधने में और बाल की पटिया पारने और माँग काढ़ने में दसेक मिनट बरबाद होते। फिर मेरे बाल मुलायम न थे। उन्हें ठीक-ठीक सँवारे रखने के लिए ब्रुश के साथ नित्य लड़ाई होती, और टोपी पहनते और उतारते समय हाथ तो मानो माँग सँवारने के लिए सिर पर पहुँचते ही रहते। इसके सिवा जब कभी सभ्य समाज में बैठता तो माँग पर हाथ फेर कर बालों को दुहस्त रखने की सभ्य क्रिया होती रहती।

परन्तु इतनी टीप-टाप ही बस न थी। अकेली सभ्य पोशाक से थोड़े ही कोई सभ्य हो जाता है। इसीलिए सभ्यता की और भी कितनी ही ऊपरी बातें मालूम कर ली थीं। अब उनमें कुछ प्रवीणता प्राप्त करनी थी। सभ्य पुरुष को नाचना जानना चाहिए, फ्रेंच भाषा अच्छी आनी चाहिए; क्योंकि फ्रेंच एक तो इंग्लैंड के पड़ोसी फ्रांस की भाषा थी, दूसरे सारे यूरोप की राष्ट्रभाषा भी थी। फिर मुझे यूरोप भ्रमण करने की भी इच्छा थी। इसके सिवा सभ्य पुरुष को लच्छेदार व्याख्यान देने भी आना चाहिए। मैंने नाचना सीख लेने का निश्चय किया और क्लास में भरती हुआ। एक तिमाही के तीनेक पौंड फीस के दिये। कोई तीन सप्ताह में पाँच-छे: पाठ पढ़े होंगे, ठीक ताल पर पाँव नहीं पड़ते थे। पियानो बजता था, पर यह न जान पड़ता था कि यह क्या कह रहा है। 'एक, दो, तीन' का क्रम चलता, पर इनके बीच का अंतर तो उस बाजे से ही मालूम होता था, जो मेरे लिए अगम्य था। तो फिर? फिर तो बाबा जी की बिल्ली वाली बात! चूहों को भगाने के लिए बिल्ली, और बिल्ली के लिए गाय, होते-होते बाबा जी का परिवार बढ़ा। सोचा, वायोलिन बजाना सीख लूँ तो सुर और ताल का ज्ञान हो जायगा। तीन पौंड वायोलिन खरीदने में बिगाड़े और उसे सीखने के लिए भी कुछ दक्षिणा दी। भाषण-कला सीखने के लिए तीसरे उस्ताद का घर खोजा। उसे भी एक गिन्नी की भेंट तो

चढ़ानी ही पड़ी। उसकी प्रेरणा से 'बेल का स्टैंडर्ड एलोक्युनिस्ट' खरीदा।
पिट के भाषण से श्रीगणेश हुआ।

पर इन बेल साहब ने मेरे कान में 'बेल' (घंटी) बजाई। मैं जागा।

'मुझे कहाँ इंग्लैंड में जिंदगी बितानी है? लच्छेदार भाषण देना सीख कर भी क्या करूँगा? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूँगा? वायोलिन तो देश में भी सीखा जा सकता है। मैं विद्यार्थी हूँ। मुझे तो विद्या-धन के संग्रह में लगना चाहिए; मुझे अपने धंधे से संबंध रखने वाली तैयारी करनी चाहिए। अपने सदाचार से मैं सभ्य समझा जा सकूँ तो अलबत्ता ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ देना चाहिए।'

इस धुन में उपर्युक्त आशय का पत्र मैंने भाषण-शिक्षक को लिख भेजा। उससे मैंने दो या तीन पाठ ही लिये थे। नृत्य-शिक्षिका को भी वैसा ही पत्र लिख भेजा। वायोलिन-शिक्षिका के यहाँ वायोलिन लेकर पहुँचा और उसे कह आया कि जो दाम मिले लेकर बेच दो। उससे कुछ मित्रता-सी हो गई थी, इसलिए उससे मैं मोह का भी जिक्र कर दिया। नाच इत्यादि जंजाल से छूट जाने की बात उसे पसन्द आई।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक तो कोई तीन महीने चली होगी, किन्तु कपड़ों की तड़क-भड़क बरसों तक चलती रही। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया था।

१३--उसकी माँ

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

दोपहर को ज़रा आराम करके उठा था। अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में खड़ा-खड़ा धीरे-धीरे सिगार पी रहा था और बड़े-बड़े अलमारों में सजे पुस्तकालय की ओर निहार रहा था। किसी महान लेखक की कोई महान कृति उसमें से निकालकर देखने की बात सोच रहा था। मगर, पुस्तकालय के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मुझे महान् ही महान् नज़र आये। कहीं गेटे, कहीं रूसो, कहीं मेज़िनी, कहीं निट्शे, कहीं शेक्सपियर, कहीं टॉल्स्टाय, कहीं ह्यूगो, कहीं डिक्किन्स, स्पेन्सर, मेकाले, मिल्टन, मोलियर—उफ़! इधर से उधर तक एक से एक महान् ही तो थे। आखिर मैं किसके साथ चंद मिनट मन-बहलाव करूँ, यह निश्चय ही न हो सका। महानों का नाम ही पढ़ते-पढ़ते परेशान-सा हो गया।

इतने में मोटर की भों-भों सुनायी पड़ी। खिड़की से झाँका तो सुरमई रंग की कोई 'फ़िएट' गाड़ी दिखायी पड़ी। मैं सोचने लगा-शायद कोई मित्र पधारे है, अच्छा ही है। महानों से जान बची। जब नौकर ने सलाम कर आनेवाले का कार्ड दिया, तब मैं कुछ घबराया। उसपर शहर के पुलिस सुपरिंटेंडेंट का नाम छपा था। ऐसे बेवक्त ये कैसे आये ?

पुलिस-पति भीतर आये। मैंने हाथ मिलाकर एक चक्कर खानेवाली गद्दीदार कुर्सी पर उन्हें आसन दिया। वह व्यापारिक मुस्कुराहट से लैस होकर बोले—

‘इस अचानक आगमन के लिए आप मुझे क्षमा करें।’

‘आज्ञा हो।’ मैंने भी नम्रता से कहा।

उन्होंने पाकेट से डायरी निकाली, डायरी से एक तस्वीर-‘देखिये इसे। जरा बताइये तो, आप पहचानते हैं इसको?’

‘हाँ, पहचानता हूँ।’ जरा सहमते हुए मैंने बताया।

‘इसके बारे में मुझे आप से कुछ कहना है।’

‘पूछिये।’

‘इसका नाम क्या है?’

‘लाल। मैं इसी नाम से बचपन ही से इसे पुकारता आ रहा हूँ। मगर, यह पुकारने का नाम है। एक नाम कोई और है, सो मुझे स्मरण नहीं।’

‘कहाँ रहता है यह?’ सुपरिटेण्डेंट ने पुलिस की धूर्त दृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा।

‘मेरे बँगले के ठीक सामने, एक दो मंजिला कच्चा-पक्का घर है, उसीमें वह रहता है। वह है और उसकी बूढ़ी माँ।’

‘बूढ़ी का नाम क्या है?’

‘जानकी।’

‘और कोई नहीं है क्या इसके परिवार में? दोनों का पालन-पोषण कौन करता है?’

‘सात-आठ वर्ष हुए, लाल के पिता का देहान्त हो गया। अब उस परिवार में वह और उसकी माता ही बचे हैं। उसका पिता जब तक जीवित रहा बराबर मेरी जमींदारी का मुख्य मैनेजर रहा। उसका नाम रामनाथ था। वही मेरे पास कुछ हजार रुपए जमा कर गया था, जिससे अब तक उनका खर्चा-वर्चा चल रहा है। लड़का कालेज में पढ़ रहा है, जानकी को आशा है, वह साल-दो साल बाद कमाने और परिवार को सँभालने लगेगा। मगर,—क्षमा कीजिये, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि आप इसके बारे में क्यों इतनी पूछताछ कर रहे हैं!’

‘यह तो मैं आपको नहीं बता सकता, मगर इतना आप समझ लें, यह सरकारी काम है। इसीलिए मैंने आपको इतनी तकलीफ दी है।’

‘अजी, इसमें तकलीफ की क्या बात है? हम तो सात पुस्त से सरकार के फरमाँबरदार हैं। और कुछ आज्ञा... ..’

‘एक बात और,’ पुलिस-पति ने गंभीरता से, धीरे से कहा—मैं मित्रता से आप से निवेदन करता हूँ। आप इस परिवार से ज़रा सावधान और दूर रहें। फिलहाल इससे अधिक कुछ कहना नहीं।’

‘लाल की माँ!’ एक दिन जानकी को बुलाकर मैंने समझाया—‘तुम्हारा लाल आजकल क्या पाजीपन करता है? तुम उसे केवल प्यार ही करती हो न? हूँ; भोगोगी।’

‘क्या है बाबू?’ उसी कहा—‘लाल क्या करता? मैं तो उसे कोई भी बुरा काम करते नहीं देखती।’

‘बिना किए ही तो सरकार किसी के पीछे नहीं पड़ती। हाँ, लाल की माँ, बड़ी धर्मात्मा, विवेकी और न्यायी सरकार है यह। ज़रूर तुम्हारा लाल कुछ करता होगा।’

‘माँ! माँ!! पुकारता हुआ उसी समय लाल भी आया। लंबा सुडौल, सुंदर तेजस्वी।

‘माँ!’ उसने मुझे नमस्कार कर जानकी से कहा—‘तू यहाँ भाग आयी है! चल तो, मेरे कई सहपाठी वहाँ खड़े हैं। उन्हें चटपट कुछ जल-पान करा दे। फिर हम घूमने जाएँगे।’

‘अरे!’ जानकी के चेहरे की झुगियाँ चमकने लगीं, कांपने लगी उसे देखकर—‘तू आ गया लाल, चलती हूँ भैया। पर, देख तो तेरे चाचा क्या शिकायत कर रहे हैं। तू क्या पाजीपन करता है बेटा!’

‘क्या है चाचा जी?’ उसने सविनय, सुमधुर स्वर से मुझसे पूछा-‘मैंने क्या अपराध किया है?’

‘मैं तुम से नाराज़ हूँ लाल!’ मैंने गंभीर स्वर में कहा।

‘वयों चाचाजी!’

‘तुम बहुत बुरे होते जा रहे हो, जो सरकार के विरुद्ध पड़्यन्त्र करने-वालों के साथी हो। हाँ, हाँ—तुम हो। देखो लाल की माँ! इसके चेहरे का रंग उड़ गया, यह सोच कर कि यह खबर मुझे कैसे मिली!’

सचमुच एक बार उसका खिला हुआ रंग ज़रा मुरझा गया, मेरी बातों से। पर तुरन्त ही वह सँभला।

‘आप ने गलत सुना, चाचा जी। मैं किसी षड्यन्त्र में नहीं। हाँ, मेरे विचार स्वतन्त्र अवश्य हैं। मैं जरूरत-बेजरूरत जिस-जिसके आगे उबल अवश्य उठता हूँ, देश की दुरवस्था पर उबल उठता हूँ, और इस पशुहृदया परतन्त्रता पर भी।’

‘तुम्हारी ही बात सही, तुम षड्यन्त्र में नहीं, विद्रोह में नहीं, पर यह बकबक क्यों? इससे फायदा? तुम्हारी इस बकबक से न तो देश की दुर्दशा दूर होगी और न उसकी पराधीनता। तुम्हारा काम पढ़ना है—पढ़ो। इसके बाद कर्म करना होगा, परिवार और देश की मर्यादा बचानी होगी। तुम पहले अपने घर का उद्धार तो कर लो, तब सरकार के सुधार का विचार करना।’

उसने नम्रता से कहा—‘चाचा जी, क्षमा कीजिये। इस विषय में मैं आप से विवाद करना नहीं चाहता।’

‘चाहना होगा’ विवाद करना होगा। मैं केवल चाचा जी नहीं तुम्हारा बहुत कुछ हूँ। तुम्हें देखते ही मेरी आँखों के सामने रामनाथ नाचने लगते हैं। तुम्हारी बूढ़ी माँ घूमने लगती हैं। भला मैं तुम्हें बेहाथ होने दे सकता हूँ? इस भरोसे न रहना।’

‘इस पराधीनता के विवाद में, चाचाजी, मैं और आप दो भिन्न सिरों पर हैं। आप कट्टर राजभक्त, मैं कट्टर राज-विद्रोही। आप पहली बात को उचित समझते हैं कुछ कारणों से, मैं दूसरी को, दूसरे कारणों से। आप अपना पथ छोड़ नहीं सकने, अपनी प्यारी कल्पनाओं के लिए, मैं अपना पथ नहीं छोड़ सकता।’

‘तुम्हारी कल्पनाएँ क्या हैं? सुनूँ तो जरा मैं भी, जान लूँ कि अब के लड़के कालेज की गर्दन तक पहुँचते-पहुँचते कैसे-कैसे हवाई क्लिबे उठाने

के सपने देखने लगते हैं। ज़रा में भी सुनूँ बेटा! '

‘मेरी कल्पना यह है कि जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र किसी अन्य व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो उसका सर्वनाश हो जाय।’

जानकी उठकर बाहर चली—‘अरे, तू तो जमकर चाचा से जूझने लगा। वहाँ चार बच्चे बेचारे दरवाजे पर खड़े होंगे। लड़ तू, मैं जाती हूँ।’ उसने मुझसे कहा—‘समझा दो बाबू, मैं तो आप ही कुछ नहीं समझती, फिर इसे क्या समझाऊँगी?’ उसने फिर लाल की ओर देखा—‘चाचा जी जो कहें, मान जा बेटा। यह तेरे भले ही की कहेंगे।’

वह बेचारी कमर झुकाये उस साठ बरस की आयु में भी घूँघट सँभाले चली गयी। उस दिन उसने मेरी और लाल की बातों की गंभीरता नहीं समझी।

‘मेरी कल्पना यह है कि’ उत्तेजित स्वर से लाल ने कहा—‘ऐसे दुष्ट, नाशक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के सर्वनाश में मेरा भी हाथ हो।’

‘तुम्हारे हाथ दुर्बल हैं; उनसे, जिसने तुम पंजा लेने जा रहे हो, चरर-मरर हो उठेंगे; नष्ट हो जाएँगे।’

‘चाचा जी, नष्ट हो जाना तो यहाँ का नियम है। जो सँवारा गया है वह बिगड़ेगा ही। हमें दुर्बलता के डर से अपना काम नहीं रोकना चाहिए। कर्म के समय हमारी भुजाएँ दुर्बल नहीं, भगवान् की सहस्र भुजाओं के सरीखी हैं।’

‘तो, तुम क्या करना चाहते हो?’

‘जो भी मुझसे हो सकेगा।’

‘षड्यन्त्र?’

‘जरूरत पड़ी तो जरूर...’

‘विद्रोह?’

‘हाँ, अवश्य!’

‘हत्या?’

‘हाँ-हाँ-हाँ!’

‘बेटा, तुम्हारा माथा न जाने कौन किताब पढ़ते-पढ़ते बिगड़ रहा है। सावधान!’

(३)

मेरी धर्मपत्नी और लाल की माँ एक दिन बैठी हुई बातें कर रही थीं कि मैं पहुँच गया। कुछ पूछने के लिए कई दिनों से मैं उसकी तलाश में था।

‘वयों लाल की माँ! लाल के साथ किसके लड़के आते हैं तुम्हारे घर में?’

‘मैं वया जानूँ बाबू,’ उसने सरलता से कहा—‘मगर वे सभी मेरे लाल ही की तरह मुझे प्यारे दिखाई पड़ते हैं। सब लापरवाह। वे इतना हँसते-गाते और हो-हल्ला मचाते हैं कि मैं मुग्ध हो जाती हूँ।’

मैंने एक ठंडी साँस ली—‘हूँ, ठीक कहती हो। वे बातें कैसी करते हैं? कुछ समझ पाती हो?’

‘बाबू, वे लाल की बैठक में बैठते हैं। कभी-कभी जब मैं उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने जाती हूँ तब वे बड़े प्रेम से मुझे ‘माँ’ कहते हैं। मेरी छाती फूल उठती है—मानों वे मेरे ही बच्चे हैं।

‘हूँ...’मैंने फिर साँस ली।

‘एक लड़का उनमें बहुत ही हँसोड़ है। खूब तगड़ा और बली दिखता है। लाल कहता था, वह डंडा चलाने में, लड़ने में, दौड़ने में, घूँसेबाजी में, खाने में, छेड़खानी करने और हो-हो हा-हा कर हँसने में समूचे कालेज में प्रथम है। उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परोस रही थी मेरे मुँह की ओर देखकर कहा—‘ माँ! तू तो ठीक भारतमाता-सी लगती है। तू बूढ़ी वह बूढ़ी उसका उजला हिमालय, है तेरे केश। हाँ नकशे से साबित करता हूँ—तू भारत-माता है। सर तेरा हिमालय, माथे की दोनों गहरी, बड़ी रेखाएँ गंगा और यमुना। यह नाक विन्ध्याचल, दाढ़ी कन्याकुमारी तथा छोटी-बड़ी झुर्रियाँ-रेखाएँ भिन्न-भिन्न पहाड़ और नदियाँ हैं। ज़रा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे बाएँ कंधे पर लहरा दूँ; वह बर्मा बन जाएगा। बिना उसके भारतामाता का शृंगार शुद्ध न होगा।

जानकी उस लड़के की बातें सोच गद्गद हो उठी, ‘बाबू ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे और उसने मुझे पकड़ मेरे बालों को बाहर कर अपना बर्मा तैयार कर लिया। कहने लगा ‘देख, तेरा यह दाहिना कान ‘कच्छ’ की खाड़ी है बम्बई के आगेवाली; और यह बायाँ बंगाल की खाड़ी। माँ! तू सीधा मुँह करके ज़रा खड़ी हो। मैं तेरी ठुड्डी के नीचे उससे दो अंगुल के फामले पर हाथ जोड़कर घुटनों पर बैठता हूँ। दाढ़ी तेरी कन्या-कुमारी। हा हा हा! और मेरे जुड़े, ज़रा तिरछे हाथ सिलोन, लंका। हा-ह-हा-हा! बोली—भारतमाता की जय!’

‘सब लड़के ठहाका लगाकर हँसने लगे। वह घुटने टेककर, हाथ

जोड़कर मेरे पाँव के पास बैठ गया। मैं हक्की-बक्की-सी हँसनेवालों का मुँह निहारने लगी। बाबू, सभी बच्चे मेरे 'लाल' हैं, सभी मुझे 'माँ' कहते हैं।'।

उसकी सरलता मेरी आँखों में आँसू बनकर छा गयी। मैंने पूछा- 'लाल की माँ! और भी वे कुछ बातें करते हैं? लड़ने की, झगड़ने की, गोला, गोली या बन्दूक की?

'अरे बाबू'-उसने मुस्कराकर कहा 'वे सभी बातें करते हैं। उनकी बातों का कोई मतलब थोड़े ही होता है? सब जवान हैं ल.परवाह हैं, जो मुँह में आता है, बकते हैं। कभी-कभी तो पागलों की-सी बातें करते हैं। महीने-भर पहले एक दिन लड़के बहुत उत्तेजित थे। वे जब बैठक में बैठकर गलचौर करने लगते हैं, तब कभी-कभी उनका पागलपन मुनने के लोभ से, में दरवाजे से सट और छिपकर खड़ी हो जाती हैं।

'न जाने कहाँ लड़कों को सरकार पकड़ रही है। मालूम नहीं, पकड़नी भी है या वे यों ही गप हाँकते थे। मगर उस दिन वे यही बक रहे थे। कहते थे—पुलिसवाले केवल सन्नेह पर भले आदमियों के बच्चों को त्रास देते हैं, मारते हैं, सताते हैं। यह अत्याचारी पुलिस की नीचता है। ऐसी नीच शामन-प्रणाली को स्वीकार करना अपने धर्म को, आत्मा को, परमात्मा को भुलाना है, धीरे-धीरे घुलाना, मिटाना है।

'एक ने उत्तेजित भाव से कहा—'अजी, ये परदेशी कौन लगते हैं हमारे जो हमें बरबस राजभवत बनाये रखने के लिए हमारी छाती पर तोप का मुँह लगाये अड़े और खड़े हैं? उफ़! इस देश के लोगों की हिये की आँखें मुंद गयी हैं, तभी तो इतने जुल्मों पर भी आदमी आदमी से डरता है। ये लोग शरीर की रक्षा के लिए अपनी-अपनी आत्मा की चिता सँवारते फिरते हैं। नाश हो परतंत्रतावाद का !

‘दूसरे ने कहा—लोग ज्ञानी न हो सकें, इसलिए इस सरकार ने हमारे पढ़ने-लिखने के साधनों को अज्ञान से भर रखा है। लोग वीर और स्वाधीन न हो सकें, इसलिए अपमानजनक और मनुष्यता नीतिमर्दक कानून गढ़े हैं। गरीबों को चूसकर, सेना के नाम पर पले हुए पशुओं को शराब से, कबाब से मोटा-ताजा रखती है। यह सरकार धीरे-धीरे जोंक की तरह हमारे देश का धर्म, प्राण और धन चूसती चली जा रही है; यह लूटक शासनप्रणाली है। नाश हो इस प्रणाली का; इस प्रणाली की तसवीर-सरकार का !

‘तीसरा वही बँगड़ बोला—सब से बुरी बात यह है, जो सरकार रोब से-सत्तावनी रोब से, धाक से, धाँधली से, धुँए से हम पर शासन करती है। वह आँखें खोलते ही कुचल-कुचलकर हमें दब्बू, कायर, हतवीर्य बनाती है। और किसलिए, ज़रा सोचें तो। मुठ्ठी भर मनुष्यों को अरुण, वरुण और कुबेर बनाए रखने के लिए मुठ्ठी भर मनचले सारे-ससार की मनुष्यता की मिट्टी-पल्लाद करें, परमात्मा-प्रदत्त स्वाधीनता का गहार करें-छिः ! नाश हो ऐसे मनचलों का !

‘ऐसी ही अंटसंट ये बातूनी वका करते हैं बाबू। जभी चार छोकरे जुड़े, तभी यही चर्चा। लाल के साथियों का मिजाज भी, उसी-सा, अल्हड़-बिल्हड़ मुझे मालूम पड़ता है। ये लड़के ज्यों-ज्यों पढ़ते जा रहे हैं, त्यों-त्यों बकबक में बढ़ते भी जा रहे हैं।’

‘यह बुरा है, लाल की माँ ! मैंने गहरी साँस ली।

(४)

ज़मींदारी के कुछ ज़रूरी काम से चार-पाँच दिनों के लिए बाहर गया था। लौटने पर बँगले में घुसने के पूर्व लाल के दरवाजे पर जो नज़र पड़ी तो वहाँ एक भयानक सन्नाटा-सा नज़र आया। जैसे घर उदास हो, रोता हो

भीतर आने पर मेरी धर्मपत्नी मेरे सामने उदास-मुख खड़ी हो गयी।

‘तुमने सुना?’

‘नहीं तो, कौन सी बात?’

‘लाल की माँ पर भयानक विपत्ति टूट पड़ी है।’

मैं कुछ-कुछ समझ गया; फिर भी विस्तृत विवरण जानने के लिए उत्सुक हो उठा—‘क्या हुआ? जरा साफ़-साफ़ बताओ।’

‘वही हुआ जिसका तुम्हें भय था। कल पुलिस की एक पलटन ने लाल का घर घेर लिया था। बारह घंटे तक तलाशी हुई! लाल, उसके बारह, पन्द्रह साथी, सभी पकड़ लिये गये हैं। सभी लड़कों के घरों की तलाशी हुई है। सबके घर से भयानक-भयानक चीजें निकली हैं।’

‘लाल के यहाँ—?’

‘उसके यहाँ भी दो पिस्तौल, बहुत-से कारतूस और पत्र पाये गये हैं। सुना है, उन पर हत्या, षड्यन्त्र, सरकारी राज्य उलटने की चेष्टा आदि अपराध लगाये गये हैं।’

‘हूँ,’ मैंने ठंडी साँस ली—‘मैं तो महीनों से चिल्ला रहा था कि वह लौंडा धोखा देगा। अब यह बूढ़ी बेचारी मरी। वह कहाँ है? तलाशी के बाद तुम्हारे पास आयी थी?’

‘जानकी मेरे पास कहाँ आयी? बुलवाने पर भी कल नकार गयी। नौकर से कहलाया—पराठे बना रही हूँ, हलुवा तरकारी अभी बनाना है। नहीं तो ये अल्हड़ बच्चे हवालात में मुरझा न जाएँगे? जेलवाले और उत्साही बच्चों की दुश्मन यह सरकार उन्हें भूखों मार डालेंगे, मगर मेरे

जीते जी यह नहीं होने का ।’

‘वह पागल है, भोगेगी ।’ मैं दुख से टूटकर चारपाई पर भहर पड़ा ।
मुझे लाल के कमों पर घोर खेद हुआ ।

इसके बाद, प्रायः एक वर्ष तक वह मुकदमा चला । कोई भी अदालत के कागज़ उलटकर देख सकता है । सी० आई० डी० ने और उसके प्रमुख सरकारी वकील ने उन लड़कों पर बड़े-बड़े दोषारोप किये । उन्होंने चारों ओर गुप्त समितियाँ स्थापित की थीं, उनके खर्च और प्रचार के लिए डाके डाले थे, सरकारी अधिकारियों के यहाँ रात में छापा मारकर शस्त्र एकत्र किये थे, पलटन में उन्होंने बगावत फैलाने का प्रयत्न किया था । उन्होंने न जाने किस पुलिस के दारोगा को मारा था, और न जाने कहाँ, न जाने किस पुलिस सुपरिटेण्डेण्ट को ! ये सभी बातें सरकार की ओर से प्रमाणित की गयीं ।

उधर उन लड़कों की पीठ पर कौन था ? प्रायः कोई नहीं । सरकार के डर के मारे पहले तो कोई वकील ही उन्हें नहीं मिला रहा था, फिर एक बेचारा मिला भी तो ‘नहीं’ का भाई । हाँ, उनकी पैरवी में सबसे अधिक परेशान वह बूढ़ी रहा करती । वह सुबह-शाम उन बच्चों को लोटा थाली जेवर आदि बेच-बेचकर भोजन पहुँचाती फिर वकीलों के यहाँ जाकर दाँत निपोरती, गिड़गिड़ाती कहती—‘सब झूठ है । न जाने कहाँ से, पुलिस वालों ने ऐसी-ऐसी चीजें हमारे घरों से पैदा कर दी हैं । वे लड़के केवल बातूनी हैं । हाँ, मैं भगवान का चरण छूकर कह सकती हूँ । तुम जेल में जाकर देख आओ वकील बाबू ! भला, फूल-से बच्चे हत्या कर सकते हैं ?’

उसका तन सूखकर काँटा हो गया, कमर झुककर धनुष—सी हो गयी, आँखें निस्तेज ; भगर उन बच्चों के लिए दौड़ना, हाय-हाय करना उसने बन्द न किया । कभी - कभी सरकारी नौकर, पुलिस या वार्डर झुंझला कर उसे झिड़क देते, धकिया देते । तब वह खड़ी हो जाती छड़ी के सहारे

कमर सीधीकर—‘अरे, अरे! तुम कैसे जवान हो, कैसे आदमी हो? मैं तो उन भोले बच्चों के लिए दीड़ती-मरती हूँ और तुम मुझे धक्के दे रहे हो! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, भैया?’

उसको अंत तक यही विश्वास रहा कि यह सब पुलिस की चाल-बाजी है। अदालत में जब दूध का दूध और पानी का पानी किया जायेगा तब वे बच्चे जरूर बेदाग छूट जाएँगे। वे फिर उसके घर में लाल के साथ आएँगे। हा हा—हो हो करेंगे। उसे माँ कहकर पुकारेंगे।

मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गयी, जिस दिन ऊँची अदालत ने भी लाल को, उस बैंगड़ लठैत को तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कड़ी सजाएँ दी।

वह अदालत के बाहर झुकी खड़ी थी। बच्चे बेड़ियाँ बजाते, मस्ती से झूमते बाहर आये। सबसे पहले उस बैंगड़ की नजर उस पर पड़ी—

‘माँ!’ वह मुस्कराया—‘अरे हमें तो हलवा खिला-खिलाकर तूने गधे-सा तगड़ा कर दिया है। ऐसा कि फाँसी की रस्सी टूट जाय और हम मर के अमर बने रहें। मगर तू स्वयं सूखकर काँटा हो गयी है! क्यों माँ, तेरे लिए घर में खाना नहीं है क्या?’

‘माँ’ उसके लाल ने कहा—‘तू भी जल्द वहीं आना जहाँ हम लोग जा रहे हैं। यहाँ से थोड़ी देर का रास्ता है माँ। तू भी पहुँचोगी। वहीं हम स्वतंत्रता से मिलेंगे। तुझे कंधे पर उठाकर धर से उधर पीड़ते फिरेंगे समझती है? वहाँ बड़ा आनन्द है।’

‘आएगी न माँ?’ बैंगड़ ने पूछा।

‘आएगी न माँ’ लाल ने पूछा।

‘आएगी न माँ !’ फाँसी-दंड प्राप्त दो दूसरे लड़कों ने भी पूछा। और वह बकर-बकर उनका मुँह ताकती रही-तुम कहाँ जाओगे पागलो ?

जब से लाल और उस के साथी पकड़े गये, तब से शहर या मुहल्ले का कोई भी आदमी लाल की माँ से मिलने में डरता था। उसे रास्ते में देखकर जाने-पहचाने बगलें झाँकने लगते। मेरा स्वयं अपार प्रेम था उस बेचारी बूढ़ी पर; मगर मैं भी बराबर दूर ही रहा। कौन अपनी गर्दन मुसीबत में डालता विद्रोही की माँ से सम्बन्ध रखकर ?

उस दिन ब्यालू करने के बाद कुछ देर के लिए पुस्तकालय वाले कमरे में गया। वहीं किसी महन् लेखक की कोई महान् कृति क्षण-भर देखने के लालच से मैंने मेजिनी की एक जिल्द निकालकर उसे खोला। पहले ही पन्ने पर पेंसिल की लिखावट देखकर चौंका। ध्यान देने पर पता चला, लाल का वह हस्ताक्षर था, मुझे याद आ गयी। तीन बरस पूर्व उस पुस्तक को मुझसे माँग कर उस लड़के ने पढ़ा था।

एक बार मेरे मन में बड़ा मोह उत्पन्न हुआ उस लड़के के लिए। उसके बफ़ादार पिता रामनाथ की दिव्य और स्वर्गीय तस्वीर मेरी आँखों के आगे नाच गयी। लाल की माँ पर उस पाजी के सिद्धांतों, विचारों या आचरणों के कारण जो वज्रपात हुआ था, उसकी एक ठेस मुझे भी उसके हस्ताक्षर को देखते ही लगी। मेरे मुँह से एक गंभीर, लाचार, दुर्बल साँस निकलकर रह गयी।

पर, दूसरे ही क्षण पुलिस सुपरिटेण्डेंट का ध्यान आया। उसकी भरी डरावनी, अमानवी आँखें मेरी-आप सुखी तो जग सुखी-आँखों में वैसे ही चमक गयीं, जैसे उजाड़ गाँव के सिवान में कभी-कभी भुतही चिनगारी

चमक जाया करती है। उसके रूखे फीलादी हाथ-जिनमें लाल की तस्वीर थी-मानों मेरी गर्दन चापने लगे। मैं मेज़ पर से 'इरेज़र' (रबर) उठा कर उस पुस्तक पर से उसका नाम उधेड़ने लगा।

उसी समय मेरी पत्नी के साथ लाल की माँ आयी। उसके हाथ में एक पत्र था।

“अरे!” मैं अपने को रोक न सका—“लाल की माँ तुम तो बिल्कुल पीली पड़ गयी हो! तुम इस तरह मेरी ओर निहारती हो, मानो कुछ देखती ही नहीं हो! यह हाथ में क्या है?”

उसने चुपचाप पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने देखा, उस पर...जेल की मुहर थी। सज़ा सुनाने के बाद वह वहीं भेज दिया गया था, यह मुझे मालूम था।

मैं पत्र निकालकर पढ़ने लगा। वह उसकी अंतिम चिट्ठी थी। मैंने कलेजा रूखा कर उसे जोर से पढ़ दिया :

माँ !

जिस दिन तुम्हें यह पत्र मिलेगा उसके ठीक सवेरे मैं बाल अरुण के किरण-रथ पर चढ़कर उस ओर चला जाऊँगा। मैं चाहता तो अंत समय तुम से मिल सकता था; मगर इससे क्या फायदा? मुझे विश्वास है, तुम मेरी जन्म-जन्मान्तर की जननी हो और रहोगी ! मैं तुम से दूर कहाँ जा सकता हूँ? माँ! जब तक पवन साँस लेता है, सूर्य चमकता है, समुद्र लहराता है, तब तक कौन मुझे तुम्हारी करुणमयी गोद से दूर खींच सकता है?

दिवाकर थमा रहेगा; अरुण रथ लिये जमा रहेगा; मैं, बँगड़, वह

यह सभी तेरे इंतजार में रहेंगे ।

हम मिले थे, मिले हैं, मिलेंगे— हाँ, माँ! —तेरा लाल

काँपते हाथ से पढ़ने के बाद पत्र को मँने उस भयानक लिफाफे में भर दिया । मेरी पत्नी की विकलता हिचकियों पर चढ़ कर कमरे को कसना से कँपाने लगी । मगर वह जानकी ज्यों की त्यों, लकड़ी पर झुकी, पूरी खुली और भावहीन आँखों से मेरी ओर देखती रही; मानों वह उस कमरे में थी ही नहीं ।

क्षण-भर बाद हाथ बढाकर मौन भाषा में उसने पत्र माँगा । और फिर, बिना कुछ कहे कमरे के, घर के, फाटक के बाहर हो गयी, डुगुर-डुगुर लाठी टेकती हुई ।

इसके बाद शून्य-सा होकर मैं झम से कुर्सी पर गिर पड़ा । माथा चक्कर खाने लगा; उस पाजी लड़के के लिए नहीं, इस सरकार की क्रूरता के लिए भी नहीं, उस देवचारी, भोली, बूढ़ी जानकी-लाल की माँ के लिए । आह ! वह कंसी स्तब्ध थी । उतनी स्तब्धता किसी दिन प्रकृति को मिलती तो आंधी आ जाती । समुद्र पाता तो बौखला उठता ।

जब एक का घंटा बजा, मैं ज़रा सगवसाया । ऐसा मालूम पड़ने लगा मानों हरा रत पैदा हो गयी है— माथे में, छाती में, रग-रग में । पत्नी ने आकर कहा— “बैठे ही रहोगे । सोओगे नही ?” मैंने इशारे से उन्हें जाने को कहा ।

फिर मेजिनी की ज़िद पर नज़र गयी । उसके ऊपर पड़े खबर पर भी । फिर अपने सुखों की, ज़मींदारी की, धनिक-जीवन की और उस पुलिस अधिकारी की निर्दय, नीरस, निसार आँखों की स्मृति कलेजे में

कंपन कर गयी। फिर रबर उठाकर मैंने उस पाजी का पेंसिल-खचित नाम पुस्तक की छाती पर से मिटा डालना चाहा।

“माँ िँ िँ िँ !”

मुझे सुनायी पड़ा। ऐसा लगा, गोया लाल की माँ कराह रही है। मैं रबर हाथ में लिए, दहलते दिल से खिड़की की ओर बढ़ा लाल के घर की ओर देखने के लिए। पर चारों ओर अंधकार था, कुछ नहीं दिखायी पड़ा। कान लगाने पर कुछ सुनायी भी न पड़ा। मैं सोचने लगा भ्रम होगा। वह अगर कराहती होती तो एकाध आवाज और अवश्य सुनाई पड़ती। वह कराहनेवाली औरत है भी नहीं। रामनाथ के मरने पर भी उस तरह नहीं धिधियायी थी जैसे साधारण स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर तड़पा करती हैं।

मैं पुनः उसी को सोचने लगा। वह उस नालायक के लिए क्या नहीं करती थी? खिलौने की तरह, आराध्य की तरह उसे दुलराती और सँवारती फिरती थी। पर.....आह रे छोकरे?

“माँ िँ िँ िँ !”

फिर वही आवाज। जरूर जानकी रो रही है, वैसे ही जैसे कुर्बानी के पूर्व गाय रोए। जरूर वही विकल व्यथित, विवश बिलख रही है। हाय री माँ, अभागिनी वैसे ही पुकार रही है, जैसे वह पाजी गा कर, मचलकर, स्वर को खींचकर उसे पुकारता था।

अँधेरा धूमिल हुआ फीका पड़ा, मिट चला। उपा पीली हुई, लाल हुई। अरुण रथ लेकर वहाँ—क्षितिज के उस छोर पर आकर पवित्र मन से खड़ा हो गया। मुझे लाल के पत्र की याद आ गयी।

‘माँ । । । । । । ।’

मानो लाल पुकार रहा था; मानो जानकी प्रतिध्वनि की तरह उसी पुकार को गा रही थी। मेरी छाती धक-धक करने लगी। मैंने नौकर को पुकार कर कहा—

‘देखो तो, लाल की माँ क्या कर रही है।’

जब वह लौट कर आया, तब मैं एक बार पुनः मेज़ और मेज़िनी के सामने खड़ा था। हाथ में रबर लिए उसी, उसी उद्देश्य से। उसने धब-राये स्वर से कहा—

‘हुजूर, उनकी तो अजीब हालत है। घर में ताला पड़ा है और वह दरवाजे पर पाँव पसारें, हाथ में कोई चिट्ठी लियें, मुँह खोले, मरी बैठी है। हाँ, सरकार! विश्वास मानिये, वह मर गयी है। साँस बन्द है, आँखें झली.....।’



१४--संस्कृत के महान् पण्डित सूर्यदेव

श्री वंशीधर विद्यालंकार

अंग्रेजों और अंग्रेजी की चढ़ती के दिनों में सबसे अधिक यदि किसी की छीछालेदर हुई, यदि किसी की तकदीर पर साढ़ेसाती आई और यदि किसी की मार्केट दर सबसे अधिक गिरी तो वह बिचारे संस्कृत के पुराने पण्डित की। अर्थशास्त्र का क्रायदा है कि जो चीज़ कम होती है और जिसकी माँग ज्यादा होती है, उसका दाम बाज़ार में बढ़ जाता है। बिचार संस्कृत के पुराने पण्डित कम तो थे परन्तु इतने पर भी क्योंकि उनकी कुछ माँग न थी इसलिए बिचारों को मुफ्त में भी कोई नौकरी देने के लिए तैयार नहीं था। मेकाले ने लिखा था कि एक उस अलमारी से जिममें संस्कृत की पुस्तकें भरी हों वह अलमारी अच्छी है जिसमें कोई किताब न हो और जो बिलकुल खाली हो। संस्कृत का पुराना पण्डित भारतीय-संस्कृति और विचारधारा का समर्थक था; उसके लिए हिमालय, गंगा, यमुना, कावेरी और रामेश्वरम् तीर्थ थे और अंग्रेज़ तो ऐसे लोगों को चाहने थे जो न केवल अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ीयत के समर्थक हों परन्तु जिनके लिए ससार में सबसे बड़ा तीर्थस्थान इंग्लैंड हो। ऐसी अवस्था में इन संस्कृत के पुराने पण्डितों को कौन पूछता? इन पुराने पण्डितों के इस पुरानेपन, लकीर के फकीर होने और उनमें अन्य कई न्यूनताएँ होने पर भी उनमें कई ऐसी विशेषताएँ थीं कि जिन्होंने उन्हें देखा वह उनके सामने श्रद्धा से सिर झुकाए बिना नहीं रह सकता था। इतनी दुर्दशा होने के पश्चात् भी पुराना पण्डित सिर उठाकर चलता था और हृदय में अपने आपको किसी तरह किसी अंग्रेज़ी के विद्वान से हीन नहीं समझता था। वह अपनी बुरी अवस्था का कारण अपने बुरे दिनों को समझता था परन्तु वह अपने

को बुरा नहीं समझता था। इंग्लैण्ड में वर्षों रह चुकने और अंग्रेज़ी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी हमारे देश के बड़े बड़े लोगों में एक तरह की हीनता की मनोवृत्ति (Inferiority complex) पाई जाती है और वे यूरोपीय संस्कृति, सभ्यता और व्यवहार का अन्धानुकरण करने में अपना गौरव समझते हैं। इसके विपरीत संस्कृत का पुराना पण्डित अपने दीन-हान वेश में, अपने फटे-पुराने कपड़ों में अपनी निष्ठा में स्थिर था, विश्वास में अटल था और अपनी मर्यादा के सामने बड़े-बड़े अंग्रेज अधिकारियों को हीन और अम्पूष्य समझता था।

इन महान् पण्डितों की कमज़ोरियों, दकियानूसीपन किसी के हाथ का न खाना, छूआछूत, अन्धविश्वास और प्राचीनता के प्रति अन्ध हठ से तो संसार परिचित है परन्तु उनकी सादगी, सरलता, सहृदयता निष्कपटता, अगाध और विस्तृत विद्वत्ता, विनय, शालीनता और लिहाज़ से बहुत कम लोग परिचित हैं। वे किसी स्कूल, पाठशाला या कालेज में पढ़े नहीं होते थे परन्तु इस पर भी उनका ज्ञान ठोस होता था। इन पण्डितों की मेधाशक्ति और स्मृतिशक्ति को देखकर आश्चर्य होता था; वे एक चलते-फिरते संस्कृत के पुस्तकालय प्रतीत होते थे। आप कहीं से कोई पंक्ति निकाल लीजिए; उन्हें कण्ठस्थ थी और वे बिना किसी पुस्तक की सहायता से उसे समझा देते थे और उसके पूर्वापर प्रकरण को देखने की उनको कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती थी। जिन कार्यों को विस्तृत होने के कारण बहुत से विद्वान् मिल कर करते हैं उनके लिए एक पण्डित ही पर्याप्त था। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय को ऐसी सरलता और स्पष्टता से समझाते थे कि उनकी बुद्धि एक विशाल और अगाध समुद्र-सी प्रतीत होती थी। उनको यह ज्ञान या तो वंशपरम्परा द्वारा प्राप्त होता था और या फिर किसी गुरु के द्वारा। निर्धन और दरिद्र होने पर भी, चनों पर गुजारा करके भी वे इस ज्ञान को साधना, तप और घोर परिश्रम के द्वारा उपार्जन करते थे। इस समय तो विद्या के उपार्जन के लिए पैसा ही बड़ा साधन समझा जाता है क्योंकि जो पैसा खर्च कर सकता है वही अपने बच्चों

को ऐसे ऊँचे विद्यालयों में भेज सकता है जहाँ उच्चशिक्षित और कठिनाई से प्राप्य अध्यापक प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु ये पण्डित विद्या का उपार्जन धन के बल पर नहीं करते थे। वे अपने उग्र तप, कठोर-साधना और निरंतर परिश्रम से जागरूक रह कर ज्ञान प्राप्त करते थे और इसीलिए वे अपने ज्ञान के स्वयं एक जीवित प्रतीक होते थे। जो उनके इस ज्ञान से जग-सा भी परिचय प्राप्त करता था वह अपने हृदय में इस बात का अनुभव कर सकता था कि संस्कृत के पुराने पण्डित होने के क्या अर्थ हैं और वे कैसे होते हैं।

जब हरिद्वार से तीन मील दूर गुरुकुल-विश्वविद्यालय कांगड़ी की स्थापना हुई और संस्कृत के पुनरुज्जावन के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हुए, उस समय गुरुकुल-कांगड़ी में दूर-दूर से कुछ ऐसे संस्कृत के महान् पंडित आए जिनके स्मरण से न केवल प्रमत्तता होती है अपितु जिनकी बुद्धि, स्मृति-शक्ति और जिनके ज्ञान पर आज भी आश्चर्य होता है। इनमें से एक पंडित श्रीयुत सूर्यदेव जी थे। ये छपरा जिले के रहने वाले थे। वे जितने दिन गुरुकुल में रहे उनके जीवन, रहन-सहन और व्यवहार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। जैसे कि वे पहले दिन थे—आखिरी दिन तक वे वैसे ही रहे; मानो वे सत्य सनातन की एक सजीव मूर्ति थे। उनकी आयु और उनके शरीर में भी किसी प्रकार का परिवर्तन अनुभव नहीं होता था। परिवर्तनशील विश्व में मानों वे ही एक अपरिवर्तनशील थे। न ज्यादाह बोलते थे, न ज्यादाह हँसते थे; कभी-कभी हलका मुस्कराते थे, सर्वथा निरीह और निष्कपट थे, हृदय के सरल, बच्चों जैसे भोले, किसी का कुछ न कहने वाले, मृदु स्वभाव, पढ़ाने के लिये सदा तैयार। न किसी के साथ खाते-पीते थे, सब से अलग-अलग रहते थे। कभी-कभी पण्डित मण्डली आकर उनके पास बैठ जाती थी। गंगा के किनारे के बाँध के पास, गुरुकुल महाविद्यालय के आश्रम के पास जो टिनशेड बने हुए थे उन्हीं में से दो कमरे उन्होंने लिए हुए थे और वे गर्मी, सर्दी और वर्षा में वहीं रहते थे। वे सदा नग्न सिर रहते थे जिस पर थोड़े से बाल थे। पाँछे पतली और बँधी हुई शिखा थी

और थे वे नंगे पैर। घुटे हुए सिर जैसे रंग का चमकता हुआ स्याम वर्ण का गोल चेहरा, ललाट चौड़ा और उन्नत, आँखें बड़ी और थी भुरभुरी, गंगा-जमुनी मूँछे। घुटनों तक की धोती बाँधते थे। धोती कभी धोबी के पास धुलती नहीं थी। उसके ऊपर वे सफेद कपचा या मिर्जई पहनते थे जिसमें बटनों के स्थान पर बाँधने के लिए बन्द लगे थे। सदियों में यह मिर्जई गरम कपड़े की होती थी और इस पर एक दुपट्टा रहता था। बस यही उनकी पोशाक थी। बोली भी वे छारे के तरफ की बोलते थे। कद के ऊँचे थे; शरीर अच्छा था; न मोटा न पतला। उनके एक छोटे भाई थे। उनका रंग-रूप बिल्कुल उन्हीं के जैसा था; जग उनसे पतले और कद के छोटे थे। वे उनके साथ रहते थे और उनका भोजन बना देने थे। बस यही उनका परिवार था। गुरुकुल के पुस्तकालय से वे ऐसी गहन और कठिन विषयों की पुस्तकें लाकर पढ़ते थे जिन्हें अत्यन्त प्राचीन और दुरूह होने के कारण कोई हाथ लगाने का साहस तक नहीं करता था। इन्हीं पुस्तकों को पुस्तकालय से ले जाने के कारण इस बात का ज्ञान हो सका कि वे न केवल एक महान् विद्वान् हैं अपितु गुरुकुल के स्वर्गीय कुलपति श्रीयुत आचार्य रामदेव जी के शब्दों में वे एक चलते-फिरते ज्ञानकोष (इन्साइक्लोपीडिया) थे। जब कोई उनके टिनशेड के कमरे में पढ़ने के लिए आता था, वे अपने तख्त पर प्रायः लेटे हुए पढ़ाते थे। उनके पास पुस्तक नहीं होती थी। पढ़ानेवाला अपनी पुस्तक से पढ़ता जाता था और वे लेटे-लेटे व्याख्या करते जाते थे और विषय को सरल और स्पष्ट रूप में समझाने का प्रयत्न करते थे। संस्कृत व्याकरण, साहित्य, अलंकार, शास्त्र वेद, दर्शन और ब्राह्मण ग्रन्थ सभी विषयों के वे पारंगत विद्वान् थे। पढ़ाने के लिए उनके घर का द्वार सर्वदा खुला था। जो पुस्तकें अत्यन्त दुर्बोध थीं और जिनका नाम लेने से भी बड़े-से-बड़े पण्डितों के दिलों में कँपकँपी छूटती थी, उन पुस्तकों को वे किसी परीक्षा के लिए नहीं परंतु अपने मनोरंजन के लिए पढ़ा करते थे। वे इन पुस्तकों को इस तरह पढ़ा करते थे जैसा कि कोई उभयनास पढ़ रहा हो। जब वे किसी पुस्तक का हवाला देते थे तो इस प्रकार कहा करते थे : 'गुरुकुल के पुस्तकालय (और गुरुकुल का पुस्तकालय-)

लय विशाल था) में चले जाओ। वहाँ फलाने विभाग की फलानी आलमारी में, फलाने खाने में, फलाने नम्बर पर फलानी पुस्तक रखी है—उसके फलाने षष्ठ पर फलानी पंक्ति है और उस पंक्ति को देख लो।' और यह सब बिलकुल ठीक निकलता था। उनकी इस अद्भुत स्मृतिशक्ति पर बड़ा आश्चर्य होता था परन्तु वे ये सब बातें अत्यन्त सरलता से इस प्रकार कहा करते थे कि जैसे यह कोई अत्यन्त साधारण-सी बात हो। उनमें किसी प्रकार का अभिमान, दंभ या दिखावा नहीं था। उनका जीवन अत्यन्त साधारण और स्वाभाविक था। उनमें किसी प्रकार की बनावट या कृत्रिमता नहीं थी। उनकी इस अत्यन्त साधारणता और सादगी के कारण यह ज्ञात नहीं होता था कि वे कोई महान् और असाधारण पंडित हैं। उनके पास किसी प्रकार की कोई डिग्री या उपाधि नहीं थी, जब वे पहले-पहल गुरुकुल में आए तो उनकी सरल वेशभूषा, बातचीत करने की कम आदत और डिग्री आदि के अभाव के कारण उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिए पाँचवीं और छठी श्रेणियाँ दे दी गईं—पीछे तो वे कालेज की सबसे बड़ी कक्षाओं को ब्राह्मण-ग्रंथ आदि पढ़ाया करते थे। वे जिस प्रकार कालेज के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे उसी प्रकार पाँचवीं और छठी कक्षा को पढ़ाते थे। मैंने उनसे इन कक्षाओं में भी पढ़ा था और कालेज की कक्षाओं में भी। उनके लिए दोनों एक समान थी। छोटी कक्षाओं को पढ़ाने में उन्हें किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं होता था और उच्च कक्षाओं को पढ़ाने हुए वे किसी प्रकार की उच्चता का अनुभव नहीं करते थे। वे जब छोटी कक्षाओं को पढ़ाते थे उस समय की एक घटना का मुझे प्रायः स्मरण आता है। इस घटना से जहाँ कुछ हँसी आती है वहाँ उनके हृदय की सरलता और मिठास का भी अनुभव होता है। वे आहिस्ता बोलते थे—ऊँचा बहुत कम बोलते थे। पुराने पंडित थे इसलिए विद्यार्थी पढ़ाई के समय कभी आपस में बातचीत करने लग जाते थे। वे गुस्से में या किसी प्रकार आवेश में आते ही नहीं थे। वे जिस आवाज में पढ़ा रहे होते थे उसी आवाज में शान्ति पूर्वक विद्यार्थी का नाम ले कर उसे खड़े हो जाने के लिए कहते थे और जब विद्यार्थी खड़े होकर भी आपस में बातचीत करते रहते थे तब वे उसी प्रकार शान्तिपूर्ण आवाज में कहते

थे : 'अच्छा, तो तुम मानोगे नहीं । आपस में बातचीत करते हो । अच्छा, तुम सब 'वध्यस्थल' में एक-एक करके आते जाओ ।' वे पीटने को वध करना कहते थे । एक एक करके विद्यार्थी 'वध्य-स्थल' में बुलाए जाते थे । 'वध्य-स्थल' उनकी भेज की दाईं तरफ कुर्सी के पास था । बातचीत करने वाले विद्यार्थियों में से प्रत्येक को वे नाम लेकर अलग-अलग बुलाते थे । और वहाँ आ जाने पर जिस प्रकार उनका 'वध' करते थे वह उनका पंडिताऊ दंड देने का अपूर्व ढंग था जिसमें उनकी दयालुता और हृदय के प्रेम का पता चलता है । वे पंडिताऊ ढंग से कहते थे 'तो तुम मानोगे नहीं । आओ, वध्य-स्थल में खड़े हो जाओ' और वे विद्यार्थी के 'वध्यस्थल' में खड़े हो जाने के पश्चात् उसकी पीठ पर अपना बायाँ हाथ रख देते थे और फिर अपने उस हाथ पर धीरे-से अपना दायाँ हाथ एक बार मार देते थे और कहते थे : 'जाओ अब अपने स्थान पर जाकर बैठ जाओ और पढ़ाई के समय बातें मत किया करो ।' उनके 'वध्य-स्थल' को जिसने देखा है वह उनके इस पंडिताऊ सरल प्रेम को कैसे भूल सकता है ! उन्होंने कभी किसी विद्यार्थी को किसी तरह का कोई सख्त शब्द नहीं कहा—मारने-पीटने की तो बात ही क्या थी ।

उन दिनों बहुत से अंग्रेज अधिकारी गुरुकुल को राज-विद्रोह की संस्था समझते थे । गुरुकुल शहरों से दूर जंगल में था और फिर इस संस्था को चलाने के लिए अंग्रेज अधिकारियों ने सरकारी सहायता देने के लिए बहुत प्रयत्न किया जिसे स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वीकार नहीं किया । वे इस संस्था को एक स्वतंत्र संस्था रखना चाहते थे । अंग्रेज अधिकारी इस स्वतन्त्रता का अर्थ कुछ और ही समझते थे । वे समझते थे कि यहाँ जंगलों के एकान्त में विद्यार्थी अंग्रेजी सल्तनत के खिलाफ बगावत करने के लिए तैयार किये जा रहे हैं । उनमें भारतीयता के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए संस्कृत आदि विषय पढ़ाये जाते हैं । परिणाम यह हुआ कि इस संस्था को देखने के लिए यू. पी. के राज्यपाल सर जेम्स मेस्टन, जो पोछे लार्ड मेस्टन हो गये थे, कई बार आये । रेमजे मैकडोनल्ड जो बाद में ग्रेट ब्रिटेन

के लेबर पार्टी की ओर से प्रथम प्रधान मन्त्री बने थे गुरुकुल पधारे थे और उन्होंने एक लेख में लिखा था जिसका शीर्षक था—'Is this sedit-ion?' क्या यह राजविद्रोह है?' यह लेख इलाहबाद के उस समय के प्रसिद्ध पत्र 'पॉयनियर' में प्रकाशित हुआ था। अन्त में 'रोलेट अवैत' के समय के प्रसिद्ध वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड हाथी पर बैठ कर गुरुकुल पधारे थे। सारे मार्ग को झड़ियों से सजाया गया था। बड़े द्वार पर उनका स्वागत करने के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्राध्यापकगण खड़े थे। वायसराय से हाथ मिला कर अपने को कौन धन्य न समझता; परन्तु उन प्राध्यापकों में श्रीयुत पं. सूर्यदेव ही ऐसे थे जो वाइसराय से हाथ नहीं मिलाना चाहते थे। जब लार्ड चेम्सफोर्ड सब प्राध्यापकों से 'शेक हैंड' करते हुये इनके पास आये तो उन्होंने अपने हाथ को पीछे हटाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु उन्होंने अपना हाथ बढ़ा कर इनका हाथ अपने हाथ में ले ही तो लिया और फिर हँसते हुए आगे बढ़ गये। वाइसराय से हाथ मिलाने पर औरों को तो प्रमत्तता होती परन्तु इससे इनके हृदय को बहुत कष्ट हुआ। वे दुःखी हृदय से गंगा-तट पर आये। गाय का गोबर लाकर कई बार पहले अपने हाथों को मला और गंगा-जल से धोया। फिर गाय के गोबर खूबी साबुन को अपने समस्त शरीर पर बार-बार लगा कर घण्टे-भर तक गंगा में स्नान किया और फिर कहीं उनके चित्त को शान्ति हुई। किसी ने पूछा : पण्डित जी! वायसराय से हाथ मिला कर आपको बहुत प्रसन्नता हुई होगी।' उत्तर में उन्होंने कहा : 'राम, राम! तुम प्रसन्नता की बात करते हो। हम तो भ्रष्ट हो गये। हमने तो वाइसराय से हाथ मिलाने से बचने की बहुत कोशिशें कीं, परन्तु उस म्लेच्छ ने हाथ पकड़ ही लिया।

आचार्य रामदेवजी, जो भारतीय शिक्षा के साथ अंग्रेजी की शिक्षा के पक्षपाती थे इनके विषय में प्रायः कहा करते थे: 'पं. सूर्यदेव तो एक ज्ञानकोष हैं। वे एक चलते-फिरते पुस्तकालय हैं। वे चाहे महाविद्यालय में कुछ न पढ़ाएँ तो भी वह शिक्षणालय धन्य है जहाँ ऐसे महान् पण्डित निवास करते हों।' आचार्य रामदेव जी उन्हें अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से

देखते थे। वे कहते थे : “कि संस्कृत के कई शब्दों की कठिनाई को जो कि अन्य कई बड़े पंडित दूर नहीं कर सके थे उन्होंने हँसते-खेलते दूर कर दिया था।” जब वे गुरुकुल से चले गए थे तब आचार्य रामदेवजी को बहुत कष्ट हुआ था और उनके गुरुकुल से चले जाने को वे एक अपराध-सा अनुभव करते थे।

अब हमारे देश में संस्कृत भाषा को पुनः शौक से पढ़ा जाने लगा है और कई महान् पंडित इस समय हमारे देश में हैं जिन्हें संस्कृत का गहरा ज्ञान है परन्तु वे संस्कृत के आधुनिक पंडित हैं। हमारे देश से जो कई प्राचीन परम्पराएँ लुप्त हो गई हैं उनमें एक परम्परा प्राचीन पंडितों की भी है। शिक्षा की प्रणाली में परिवर्तन हो जाने के पश्चात् अब उस प्रकार के पंडितों के होने की भी कम संभावना रह गई है। अंग्रेज अधिकारियों ने हमारे देश में बहुत-से संग्रहालय बनाए, बहुत-से ऐतिहासिक स्थानों के भग्नावशेषों को सुरक्षित रखने के लिए विधात बनाए और इसी प्रकार प्राचीन निधियों को सुरक्षित करने के लिए प्रयत्न किए। उन्होंने संस्कृत के कालेजों की स्थापना भी की परन्तु उनकी शिक्षाप्रणाली से हमारे देश से प्राचीन पंडितों की परिपाटी बहुत कुछ उठ-सी गई। पुराने पंडितों का संस्कृत का ज्ञान कितना ठोस और विस्तृत था यह वे ही लोग जानते हैं जिन्होंने कभी उनसे संस्कृत के शास्त्र-ग्रंथ पढ़े हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे न तो किसी परीक्षा में पास होने के लिए और न आजीविका के लिए संस्कृत का अध्ययन करते थे। यह तो एकमात्र उनका विद्या का प्रेम था और इस विद्या के प्रेम के कारण ही अन्य हजारों न्यूनताओं के होते हुए भी पुराने पंडितों के प्रति लोगों में इतना आदर और श्रद्धा थी। कई दशकों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी जब मुझे श्रीयुत पं. सूर्यदेव का स्मरण हो आता है तो मेरी आँखों में आँसू भर जाते हैं और मेरा मस्तक उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक झुक जाता है !

१५--गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्व

श्री श्यामसुन्दरदास

गोसाईंजी की आकृति कैसी थी, उनका रूप-रंग कैसा था, नाटे थे या लम्बे, हृष्ट-पुष्ट थे या दुर्बल, इसका हमें निश्चय-पूर्वक कुछ भी ज्ञान नहीं है। 'दियो सुकुल जन्म शरीर, सुन्दर हेतु जो फल चारि को' के आधार पर उसके शरीर की सुन्दर और सुडौल रचना हमने मानी है। परन्तु यह भी हो सकता है कि गोसाईं जी अपने शरीर को सुन्दर इसलिए समझते हैं कि वह धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों फलों का साधन था। उनके जो चित्र छपते हैं उनसे भी हमारा ज्ञान नहीं बढ़ सकता क्योंकि उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

अब तक उनके दो चित्र मिले हैं। एक गंगाराम ज्योतिषी जी के उत्तराधिकारियों के यहाँ प्रह्लाद घाट (काशी) पर है और दूसरा स्वर्गीय पंडा विन्ध्येश्वरी प्रसादजी के घर जो अस्सी (काशी) पर गोसाईं जी के अखाड़े के पास है; ये दोनों चित्र एक दूसरे से बिल्कुल नहीं मिलते; यद्यपि दोनों वृद्धावस्था के ही जान पड़ते हैं। एक में वे बहुत दुर्बल दिखलाये गये हैं और दूसरे में बहुत स्थूल। आकृति में भी बहुत भेद है। अस्सी वाला चित्र डॉ० ग्रिअर्सन के प्रयत्न से पहले पहल खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित 'रामायण' में छपा था। इस चित्र का कोई भी पुरावृत ज्ञाता नहीं है। कुछ लोग इस चित्र को सुन्दर मानते हैं। किस् दृष्टि से, सो नहीं कहा जा सकता। यदि भारी भरकम शरीर होना सुंदरता का एकमात्र लक्षण हो तो यह चित्र भी गोसाईं जी की सुन्दरता को प्रमाणित कर सकता है।

प्रह्लाद-घाट वाले चित्र के लिए कहा जाता है कि यह वही चित्र है जिसे जहाँगीर ने उतरवाया था। प्रह्लाद-घाट पर के तुलसीदास जी के अखाड़े के उत्साही अधिकारी पण्डित रणछोड़ व्यास ने इसी चित्र के आधार पर गोसाईं जी की एक संगमरमर की मूर्ति बनवाकर स्थापित की है। वह उस समय का है जब गोसाईं जी बहुत-पीड़ा से ग्रस्त थे, इसीलिए इसमें एक हाथ पतला दिखाया गया है।

नागरी-प्रचारिणी सभा से गोसाईं जी का जो चित्र प्रकाशित हुआ है वह इससे मिलता-जुलता है, परन्तु उसमें दोनों हाथ पतले बनाये गये हैं। सम्भवतः प्रतिलिपिकारों ने एक हाथ को दूसरे से पतला रखना मूल चित्रकार की असावधानी समझी हो। आजकल विद्वानों का मत इसी को असली स्वीकार करने की ओर है। जबतक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलता तबतक हमारी भी प्रवृत्ति इसी को प्रमाणिक मानने की होती है। तप और वार्धक्य से क्षीण होने पर भी गोसाईं जी इस चित्र में सुन्दर दिखाई देते हैं।

गोसाईं जी की बाहरी रूपाकृति के विषय में चाहे हमारी धारणा अनिश्चय में फँसी हो, परन्तु उनके वास्तविक व्यक्तित्व के विषय में अनिश्चय का कोई स्थान नहीं। उनका हृदय एक खुली पुस्तक है। उनकी रचनाओं के द्वारा हम उनके हृदय में प्रवेश कर उनके व्यक्तित्व के उस रहस्यमय आकर्षण को समझ सकते हैं जिसके द्वारा आज हिन्दुओं की ही नहीं, मनुष्य मात्र की श्रद्धा और भक्ति उनकी ओर खिंची जा रही है।

वे प्रकृति के सरल थे और शील के आगार थे। उनका शील जिसकी आभा से 'रामचरित मानस' भी अभिमण्डित है, बाहरी शिष्टाचार मात्र नहीं है। वह उनके अस्तित्व का अभिप्राश है, उनके हृदय का विभव है। राम के गुणों ने उनके हृदय में पैठ कर सब दुर्गुणों और सांसारिक वक्रताओं के लिए अर्गला लगा दी थी। बैर और विरोध से वे दूर रहते थे।

प्राणिमात्र से उनके हृदय का लगाव था और सभी के हित-साधन को वे लक्ष्य में रखते थे। यही कारण है कि छोटे और बड़े से बड़े के घर में भी उनकी वाणी की गूँज सुनाई देती है। बाइबिल को छोड़ कर 'राम चरित मानस' के समान सर्वप्रिय संसार में कदाचित् ही कोई दूसरा ग्रन्थ हो। वह भी इसलिए कि उसे गोसाईं जी ने सबके लिए सदाके लिए लिखी है। 'रामराय' होने के कारण सबको वे समदृष्टि से देखते थे। समदृष्टि में उनकी सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भी रहस्य छिपा हुआ है। जब वे किसी अवस्था में भी भेद नहीं समझते थे तब किसी के उन्हें बुरा कहने पर भी वे बुरा कैसे मान सकते थे। वे उस अवस्था से बहुत ऊँचे उठ गये थे जहाँ भले और बुरे का भेद लोगों को चंचल कर देता है। कोई उनकी प्रशंसा करे अथवा निन्दा, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं रहता था।

साधु-सन्तों को भला-बुरा कहने से निश्चय ही लोग अपनी ही वास्तविकता का परिचय देते हैं। उससे सन्तों का कुछ बन या बिगड़ नहीं सकता, इसी से किसी निन्दक की उन्होंने बुराई नहीं चाही। उनकी यही सहिष्णुता भिन्न-भिन्न विरोधी धर्म-सम्प्रदायों के सामंजस्य विधान में प्रतिफलित हुई। उनके ग्रन्थों से यह बात स्पष्ट ही है कि वे स्मार्त-वैष्णव थे। इसके साथ मध्याह्नव्यापिनी रामनवमी को उनके रामचरित मानस के प्रारम्भ करने से यह बात और पुष्ट हो जाती है क्योंकि स्मार्त वैष्णव ही मध्याह्न में रामनवमी मानते हैं। साधारण मत से उदय काल में रामनवमी मानी जाती है।

स्वयं वैष्णव होते हुए भी उन्होंने शैवों की निन्दा नहीं की बल्कि शिव और विष्णु दोनों की समानता का प्रतिपादन किया। वैष्णवों और शैवों का विरोध उन्हें अच्छा नहीं लगा। इस वैर को मिटाने के लिए उन्होंने शिव को राम का अनन्य भक्त और राम को शिव का उपासक बनाया। उनके राम ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि—'शंकर-प्रिय मम-द्रोही, शिव द्रोही मम दास' दोनों नरक भागी हैं। जो एक का विरोधी हो वह दूसरे का भक्त नहीं हो सकता। राम भक्त का यह लक्षण है कि वह शिव का भी सेवक हो।

‘बिनु छल विश्वनाथ पद नेह ,
राम भगत कर लच्छन एहू ।

एक कथानक तो उनको जैनों और हिन्दुओं के बीच भी सामंजस्य स्थापित करता दिखाई पड़ता है। हिन्दुओं के तो किसी भी देवता की उपासना अथवा किसी सम्प्रदाय को उन्होंने अपने सामंजस्य विधान के बाहर नहीं छोड़ा है। ‘विनय पत्रिका’ में उन्होंने गणेश, सूर्य आदि प्रत्येक देवता की चन्दना की है। यदि किसी मत से उनकी सामंजस्य बुद्धि का विरोध हुआ तो वह वाम-मार्ग से। यह भी इसीलिए कि वाम-मार्ग उन्हें समाज की मर्यादा का उल्लंघन करता हुआ दिखाई दिया।

इसी प्रकार भूत-प्रेत पूजा को भी वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनके मत में भूत-प्रेत-पूजकों को बहुत नीच गति मिलती है। बात यह है कि जो व्यक्ति जिसकी उपासना करता है उसी तक उसकी गति होती है। अपने से ऊपर वालों की पूजा करने में तो कोई अर्थ है उससे किसी सीमा तक उच्चोत्कर्ष ही होगा, अधःपात नहीं; परन्तु जो लोग मनुष्यों से भी पतित भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, उनका अधःपात निश्चित है।

सात्विक-वृत्ति के साथ विश्वास के संयोग से वे सब कुछ सम्भव समझते हैं। इसलिए उन्होंने वणिक कमलभव को यह उपदेश दिया था कि यदि किसी ऊँचे पेड़ के नीचे त्रिशूल खड़ा कर पेड़ से उस पर कूद जाओ तो अवश्य तुम्हें परमात्मा के दर्शन होंगे। यदि कोई कहे कि राम-नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल उग आया तो वे उसे सही स्वीकार करने में आनाकानी न करेंगे—‘राम-प्रताप सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जाम्यो ।’ परन्तु राम की करामात छोड़ कर जब जहाँगीर ने उनसे अपनी करामात दिखाने को कहा तो उन्होंने साफ कह दिया कि यह बात झूठ है कि मुझमें कोई करामात है! राम-नाम के सिवाय मैं और कोई चमत्कार नहीं जानता, क्योंकि जीवन में मनुष्य के साथ अन्धविश्वास के संयोग से पाखण्ड की वृद्धि

होती है, जिसके विरुद्ध गोसाईं जी जन्म भर लड़ते रहे ।

अवतार-वाद भी गोसाईं जी के सिद्धान्तों का प्रधान आधारस्तम्भ है, मनुष्य की ही पूजा होती है सही, किन्तु वह ईश्वर के लिए किसी व्यक्ति की ओर से दम्भ-पूर्ण दावा नहीं है, प्रत्युत मरण पर्यन्त न्यायानुकूल व्यतीत किये गये जीवन के महत्व को समाज की ओर से श्रद्धामय स्वीकृति है । वह एक पुरस्कार है जो व्यक्ति को नहीं, उसकी स्मृति को ही मिल सकता है । उसका उपयोग करने के लिए व्यक्ति नहीं रहता, केवल उसका व्यक्तित्व रह जाता है । भक्ति के आदर्श के आवेश में इस सिद्धान्त को भूल कर कहीं कहीं गोसाईं जी राम के मुँह से ईश्वरत्व का दावा करा गये हैं । भक्ति का यह आवेश केवल इसलिए क्षम्य कहा जा सकता है कि यह प्राकृत-जन का गुणगान नहीं है, इतिहास नहीं है; वरन् युगों पीछे उन्हें समाज द्वारा ईश्वरत्व मिल जाने के बाद एक भक्ति की भावना है । इसी बात से राम एक दम्भी राजा और तुलसीदास उनके चाटुकार कहे जाने से बच जाते हैं ।

अपने प्रभु को जहाँ गोसाईं जी अधिक से भी अधिक महत्व देते हैं वहाँ अपने लिये वे छोटा-सा स्थान ढूँढ़ते हैं । विनय के तो वे मानो अवतार ही थे । दम्भ उन्हें छू नहीं गया था । किस प्रकार छोटी अवस्था में वे घर घर टुकड़े माँगते फिरते थे, यह कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ :—

‘बारे ते ललात बिललात द्वारे-द्वारे दीन
जानत हौ चारि फल चारि ही चनक को’

अपने प्रभु के सामने बार-बार अपनी दीनता का वर्णन करते हुए वे शकते ही नहीं थे । उत्कट कवि होते हुए भी वे अपनी गिनती कवियों में नहीं करते थे । नम्रता के कारण वे अपने आपको सबसे निकम्मा समझते थे । बुरे लोगों में अपनी गिनती वे सबसे पहले करते थे । परन्तु क्या कभी

वास्तविक हीन व्यक्ति के हृदय में अपनी लघुता का इतना गहन और विशद अनुभव हो सकता है? और जिसे यह अनुभव हो जाय वह क्या कभी लघु रह सकता है? ऐसे 'लघुत्व' के सामने सारी महत्ता वार देने योग्य है।

परन्तु यह सहिष्णुता, क्षमाशीलता और विनय व्यक्तिगत साधना-क्षेत्र के अन्तर्गत है। जहाँ समाज की मर्यादा भंग होने का प्रश्न आता है वहीं गोसाईं जी उसे त्याग देते थे। वहाँ फिर वे 'शठे शाठ्य' की नीति का अवलम्बन उचित समझते थे। 'कतहुँ सिधाइहु तें बड़ दोषू' कह कर उन्होंने इसी व्यावहारिक चातुर्य का अनुमोदन किया है। व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में पाखण्ड फैलाकर जो लोग सामाजिक व्यतिक्रम का उपक्रम करते हैं, उन्हें वे क्षमा नहीं कर सके।

उनकी विनय और लघुता की भावना ऐसी भी नहीं थी कि उनको पीरुषेय गुणों से दूर रख कर आत्म-सम्मान-रहित बिल्कुल चाटुकार बना देती। संसार की कोई भी शक्ति उनको उस अवस्था में न डाल सकती थी जिसमें मनुष्य कहने लगता है—'हमहुँ कहब अब ठकुर मुहाती' इसके विपरीत 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' का उनको गहरा अनुभव हुआ था।

रामायण को वे भारत और भारतीय संस्कृति का संकलित संस्करण समझते थे, जिसका उन्हें औचित्यपूर्ण गर्व था। इसी संस्कृति ने भारत को अग्रणी बनाया था।

वे निःस्पृह व्यक्ति थे। लोभ से वे कोसों दूर थे। न किसी से मान चाहते थे और न दान। जहाँगीर ने उन्हें धन-धरती देनी चाही, परन्तु वे राजा-बादशाहों की कृपा के भूखे तो थे ही नहीं जो स्वीकार कर लेते। किसी के सामने हाथ फैलाकर वे राम के दासत्व का अपमान नहीं करना चाहते थे।

अपने व्यक्तित्व के विस्तार से हिन्दू-जाति और संस्कृति की रक्षा का अव्यर्थ विधान करके गोसाईं जी ने मानव-जाति के एक अंशविशेष का ही उपकार नहीं किया, प्रत्युत सारी मानव जाति का हित-साधन किया है। क्योंकि वास्तव में एक जाति-विशेष के बीच विकसित होने पर भी हिन्दू संस्कृति सार्वभौम उपयोग की वस्तु है। सारे विश्व को अपनाकर वह सारे विश्व की वस्तु हो गई है। उसे संकुचित अर्थ में हिन्दू कहना उसके महदुद्देश्य को न समझना है। भारतीय संस्कृति की रक्षा में सारी मानव-जाति की रक्षा है।

१६--स्मृति की रेखाएँ

श्रीमती महादेवी वर्मा

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही साँचे में ढले से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करने वाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़न जैसी नाक की गठन में भी विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। कुछ तिरछी, अधखुली और विरल भूरी बरनियों वाली आँखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीर कर बनाई गई हैं। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण-चिह्नों पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछाँहे सूखे पत्ते को समानता पा लेता है। आकार-प्रकार, वेश-भूषा सब मिलकर इन दूर-देशियों को यन्त्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं, इसीसे अनेक बार देखने पर भी एक फेरी वाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एकरूप समष्टि में मुझे एक मुख आर्द्र नीलिमा-मयी आँखों के साथ स्मरण आता है जिसकी मौन भंगिमा कहती है— हम कार्बन की कापियाँ नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के सम्बन्ध में तुम्हारी आँखें निरक्षर नहीं तो तुम पढ़कर देखो न !

कई वर्ष पहले की बात है। मैं ताँगे से उतर कर भीतर आ रही थी और भूरे कपड़े का गट्ठर बायें कंधे के सहारे पीठ पर लटकाये हुए और दाहिने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था। सम्भवतः मेरे घर को बन्द पाकर वह लौटा जा रहा था।

‘कुछ लेगा मेम साहब’। दुर्भाग्य का मारा चीनी। उसे क्या पता कि यह सम्बोधन मेरे मन में रोष की सब से तुंग तरंग उठा देता है। मझ्या, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने सम्बोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर विजातीय सम्बोधन मानो सारा परिचय छीन कर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है। इस सम्बोधन के उपरान्त मेरे पास से निराश होकर न लौटना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मेने अवज्ञा से उत्तर दिया ‘मैं विदेशी-फॉरेन नहीं खरीदती। ‘हम फॉरेन है? हम तो चाइना से आता है’ कहने वाले के कण्ठ से सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुक कर उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफ़ेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पैंजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैंजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी-मूँछ विहीन दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ा थी, वही तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशी को चोट पहुँची यह सोच कर मैंने अपनी ‘नहीं’ को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया— ‘मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई!’ चीनी भी विचित्र निकला ‘हम को भाय बोला है तब जरूल लेगा, जरूल लेगा-हाँ?’ होम करते हाथ जला-वाली कहावत हो गई। विवश कहना पड़ा ‘देखूँ, तुम्हारे पास है क्या?’ चीनी बरामदे में कपड़े का गट्ठर उतारता हुआ कहता चला ‘भोत अच्छा सिल्क काता है सिल्सर! चाइना सिल्क, क्रेप’.... बहुत कहने-सुनने के उपरान्त दो बेधपोश खरीदना आवश्यक हो गया। सोचा, चलो छुट्टी हुई। इतनी कम जिन्गी होने के कारण चीनी बाबू कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पन्द्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठ कर गज को फ़र्श पर बजाकर गनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा—‘अब तो मैं कुछ न लूँगी, समझे? चीनी खड़ा होकर जब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला ‘सिस्तर का वास्ते हैकी लाता है—भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इस को पाकेत में छिराके लाता है।’

देखा कुछ रुम ल थे। ऊँचे रंग के डोरे में भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कानों में उसी रंग से बने नन्हे फूलों की प्रत्येक पखुड़ी चानी नारी की कोमल उँगलियों का कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी, जीवन के अभाव की कष्ट कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आंखों को जल्दी बन्द करते और खोलते हुए वह एक सांस में ‘सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है,’ दोहराने लगा।

मन में सोचा अच्छा भाई मिला है। बचान में मुझे लोग चीनी कह कर चिढ़ाया करते थे। सन्नेह होने लगा उस चिढ़ाने में कोई तत्व भी रहा होगा। अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी सारे इलहाबाद को छोड़कर मुझसे बहन का सम्बन्ध क्यों जोड़ने आता! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहाँ जब-तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के सम्बन्ध में विशेष अभिरुचि रखता है इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल-पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय

यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आँखों पर पट्टी बाँध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा ।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहाँ की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा हुआ न हो । चीन देवने की इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा' कहते चीनी की आँखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी ।

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था, पर कहने-मुनने वाले के बीच की खाई बहुत गहरी थी । उसे चीनी और बर्मी भाषाएँ आती थीं जिनके सम्बन्ध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ में 'आँखों के अंधे नाम नैनमुख' की कहावत चरितार्थ करती थी । अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञायें और हिन्दुस्तानी संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी उसमें कथा का सारा मर्म बँध नहीं पाता था । पर जो कथाएँ हृदय का बाँध तोड़कर दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं वे प्रायः करुण होती हैं और करुणा की भाषा शब्दहीन रहकर भी बोलने में समर्थ है । चीनी फेरी वाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं ।

जब उसके माता-पिता ने माँडले आकर चाय की छोटी दूकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था । उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी; उस अनदेखी माँ के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी ।

सम्भवतः माँ ही ऐसा प्राणी है जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है, जैसे उसके सम्बन्ध में कुछ जानना बाकी नहीं । यह स्वाभाविक भी है ।

मनुष्य को संसार से बाँधने वाला विधा । माँ ही है, इसी से उसे न

मान कर संसार को न मानना सहज है, पर संसार को मान कर उसे न मानना असम्भव ही रहता है ।

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया तब उन मातृहीनों को यातना की कठोर कहानी आरम्भ हुई । दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका क्योंकि उसके पांचवें वर्ष में पैर रखते-रखने एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये ।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया, पर बहन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ़ रहा था वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा । किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को कष्ट देकर भी चुकाया जाता था । अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहन की कम्पित उँगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आँसुओं से घुला मुख छिपा और उसकी छोटी सी गोद में सिमट कर भूख भुलाई थी । कितनी ही बार सबरे, आँख मूंदकर बन्द द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहन से अपनी ठिठुरी हुई उँगलियों को गर्म करने का रास्ता पूछा था । उत्तर में बहन के फीके गाल पर चुपचाप टुक आने वाले आँसू की बड़ी बूद देख कर वह घबराकर बोल उठा था— उसे कहवा नहीं चाहिए, वह तो पिता को देखना भर चाहता है ।

कई बार पड़ोसियों के यहाँ रकाबियाँ घोर और काम के बदले भात मांग कर बहन ने भाई को खिलाया था । व्यथा की कौनसी अन्तिम मात्रा ने बहन के नरहे हृदय का बाँध तोड़ डाला, इसे अबोध बालक क्या जाने । पर एक रात उसने बिछौने पर लेट कर बहन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह मैली कुचैली बहन की कायापलट करते देखा । उसके सूखे ओठों पर विमाता

की मोटी उँगली ने दौड़-दौड़ कर लाली फेरी उसके फीके गालों पर हथेली ने घूम-घूम कर सफेद-गुलाबी रंग भरा, उसके रुखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेर कर सँवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई ।

बालक का विस्मय भय में बदल गया और भय ने रोने में शरण पाई-कब वह रोते-रोते सो गया इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा तो बहन उस गठरी बने हुए भाई के मस्तक पर मुख रख कर सिसकियां रोक रही थी । उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े, तीसरे दिन खिलौने, पर बहन के दिनों दिन विवर्ण होने वाले ओठों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़ने वाले गले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा ।

बहन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था, पर वह किससे कहे, क्या करे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी । बार-बार सोचता था, पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता । उसके स्मृति पट पर माँ की कोई रेखा नहीं, परन्तु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था उससे उनके स्नेहशील होने में सन्देह नहीं रह जाता । प्रतिदिन निश्चय करता कि दुकान में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुँच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा—तब यह विमाता कितनी डर जाएगी और बहन कितनी प्रसन्न होगी !

चाय की दुकान का मालिक अब दूसरा था, परन्तु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसी से बालक एक कोने में सिकुड़ कर खड़ा हो गया और आनेवालों से हकलाह-कलाह कर पिता का पता पूछने लगा । कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा

दिये, पर दो-एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही जिससे वह बालक को हाथ पकड़कर बाहर ही नहीं छोड़ आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दण्ड दिलाने की धमकी भी दे गया । इस प्रकार उसकी खोज का अन्त हुआ ।

बहन का सन्ध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीर वाली विमाता का जंगली बिल्ली की तरह हलके पैरों से उछल कर उतर आना, बहन के शिथिल हाथों से बटुए का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों के त्यों चलते रहे ।

पर एक दिन बहन लौटी ही नहीं । सबरे विमाता को कुछ चिन्तित भाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा । बहन—उसकी एकमात्र आधार बहन । पिता का पता न पा सका और अब बहन भी खो गई । वह जैसा था वैसा ही बहन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा । रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती थी उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था, इसीसे वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाता देखता उसी के पास पहुँचने के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता । कभी किसी से टकरा कर गिरते बचता कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता—क्या इतना ज़रा-सा लड़काभी पागल हो गया है ?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरम्भ हुई । जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊँची कर खड़ा होना, मुँह पर पंजे रख कर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं उसी प्रकार वे सब उसे तम्बाकू के धुएँ और दुर्गन्धित सांस से भरे और फटे चिथड़े, टूटे बरतन और मँले शरीरों से बसे हुए कमरे में बन्द कर कुछ विशेष संकेतों और हँसने रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे ।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हँसने रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का खेत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता। क्रन्दन उसके भीतर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि ज़रा मुँह बनाते ही दोनों आँखों से दो गोल बूंदे नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानान्तर रेखा बनातीं और मुँह के दोनों सिरों को छूतीं हुई ठुड्ढी के नीचे तक चली जातीं। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझकर, रोओ से काले उदर पर पोला सारंग बाँधने वाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछल कर उसे एक लात जमा कर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी, श्यामी आदि का सम्मिश्रण था इसी से 'चोरों की बरात में अपनी हाशियारी' के सिद्धान्त का पालन बड़ो सतर्कता से हुआ करता। जो उस पर कृपा रखते थे उनके विरोधियों का सन्देहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खाते ही उस पर सन्देह की ऐसी वृष्टि आरम्भ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान कांपने लगता और तब उस चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी उसका स्मरण करके चीनी की आँखें आज भा व्यथा और अपमान से धक-धक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े मेढ़े बरतन में, सिगार से जगह जगह जले हुए कागज से ढाककर रख दिया जाता था जिसे वह हरी आँखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गए तक उसके नरक के साथी एक-एक कर आते रहते और झंगीठी के पास सिकुड़ कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरों को जल्दी रखता हुआ आता है उसे बहुत कुछ मिल गया है, जो स्थिर पैरों को घसीटता हुआ लौटता है वह खाली हाथ है, जो

दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है, जो देहली से ठोकर खाकर धम-धम पैर रखता हुआ घूमता है उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है, आदि का ज्ञान उसे अन-ज्ञान में ही प्राप्त हो गया था ।

यदि दीक्षान्त संस्कार के उपरान्त विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अन्त होता, यह बताना कठिन है । पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा ।

प्रशँसा के पुल बांधते बाँधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज से इस तरह नापना कि बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंगुल भर पीछे रह जाय, रुपये से लेकर पाई तक को खूब देखभाल कर लेना और लौटाते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका-खनका कर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था । पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था होने से अंगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही । चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से सम्बन्ध रखने वाली सभी विद्यायें एक-सी हैं पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपा कर ।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहन को दूढ़ने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसका पता न पा सका । ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता । कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं । कभी वे निराश होकर आत्म-हत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं । उसे रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी सम्भवतः पुनर्विवाह

कर किसी ओर को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गई थी इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बन्द हो गया ।

इस बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला । यहाँ शहर में एक चीनी जूते वाले के घर ठहरा है और सबेरे आठ से बारह और दो से छः बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है ।

चीनी की दो इच्छायें हैं: ईमानदार बनने की और बहन को ढूँढ लेने की — जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान बुद्ध से प्रार्थना करता है ।

बीच-बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था, पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता । इस प्रकार उसे देखते-देखते में इतनी अम्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कहकर और शब्दों की खोज करने लगा तब में उसकी कठिनाई न समझ कर हंस पड़ी । धीरे-धीरे पता चला — बुलावा आया है, वह लड़ने के लिए चाइना जायगा । इतनी जल्दी कपड़े कहाँ बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुँचा कर बेईमान कैसे बने ! यदि में उसे अवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूँ तो वह मालिक का हिमात्र चुकता कर तुरन्त देश की ओर चल दे ।

किसी दिन पिता का पता पूछने जाकर वह हकलाया था — आज भी संकोच से हकला रहा था । मैने सोचने का अवकाश पाने के लिए प्रश्न किया 'तुम्हारे तो कोई है ही नहीं फिर बुलावा किसने भेजा ? ' चीनी की आंखें विस्मय से भरकर पूरी खुल गई — 'हम कब बोला, हमारा चाइना नहीं है ? हम कब ऐसा बोला सिस्तर ? ' मझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म सन् १८६१ ई. में हुआ। आप आधुनिक युग में केवल भारत ही के सर्वश्रेष्ठ कवि नहीं वरन् संसार के श्रेष्ठ कवियों में थे। आपकी मूल रचनायें बंगला में हैं, परन्तु आज वे संसार की लगभग सभी भाषाओं में अनूदित होगई हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की एक श्रेष्ठ कवि, उच्चकोटि के विचारक, दार्शनिक एवं साहित्यक के रूप में संसार में ख्याति है। उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व सार्वभौम था और उन्होंने साहित्य के सभी अंगों को अपनी अमूल्य निधियों से सजाया है। साहित्य के उन्होंने जिस अंग को छुआ उसी को समृद्ध कर दिया। भारत के गौरव विश्वकवि रवीन्द्रनाथ का देहावसान १९४० ई. में हुआ।

श्री प्रतापनारायण मिश्र

श्री प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सं. १८१३ ई. में कानपुर के बंजेगाँव में हुआ। आपको संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी की साधारण शिक्षा मिली थी। उर्दू फारसी का भी कुछ अभ्यास आपने किया था। सं. १८४० में कानपुर से आपने 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकाला जो १० वर्ष चला। आपने 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन किया। ३८ वर्ष की अल्पायु में ही सं. १८५१ ई में आपका देहावसान हुआ।

यद्यपि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को आदर्श मानकर आपने गद्य-पद्य लिखना आरम्भ किया तथापि आपकी शैली भारतेन्दु बाबू की शैली से कुछ भिन्न हो गई। हास्य, व्यंग और विनोद आपके निबन्धों की विशेषता है। आपकी भाषा साधारण बोलचाल की, व्यंग पूर्ण, चटपटी तथा मुहावरेदार

है। पर गंभीर विषयों पर लिखते समय आपने सयंत और साधुभाषा का भी प्रयोग किया है। आप बड़े हँसमुख और मन-मौजी थे। हर विषय में विनोद और मनोरंजन का साथ भी ढूँढ लेते थे। आपके व्यंग बड़े चुटीले होते थे। आपको हिन्दी और हिन्दुस्तान के प्रति बहुत प्रेम था।

गद्य-पद्य और नाटक मिलाकर आपने लगभग ४० पुस्तकों की रचना एवं अनुवाद किया है। इनमें 'भारत दुर्दशा', 'राजसिंह', 'मनकी बहार', 'हठी हमीर', 'तृष्यन्ताम्' 'निबन्ध नवनीत के नाम से प्रकाशित हुए हैं।

श्री बालमुकुन्द गुप्त

श्री बालमुकुन्द गुप्त का जन्म रोहतक जिले (पंजाब) के गुरयानी गाँव में सं. १८२२ ई. में और मृत्यु सं. १८८४ में हुई। आप बड़े अनुभवी और कुशल सम्पादक थे। पहले सं. १८८४ ई. में चुनार से निकलने वाले उर्दू अखबार 'अखबारे चुनार' तथा सं. १८४५ ई में लाहौर के उर्दू अखबार 'कोहेनूर' के सम्पादक हुए। इन्हीं दिनों हिन्दी के आंदोलन से प्रभावित हो हिन्दी साँखकर कालाकांकर के हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' में आ गए। शीघ्र ही कलकत्ते के प्रसिद्ध संवादपत्र 'बंगवासी' के सहायक सम्पादक होगये तथा पांच वर्ष यही कार्य करते रहे। उसके पश्चात् सं. १८५४ ई. में 'भारतमित्र' के प्रधान सम्पादक हुए और मृत्यु-पर्यंत सम्पादन करते रहे।

ये बड़े चतुर और विनोदशील थे। देश की सामयिक और राज-नीतिक परिस्थिति के प्रति एक देशानुरागी की भाँति सजग रहते थे। अपनी विनोद और व्यंगपूर्ण रचना 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में इन्होंने देश की दशा पर बड़े तीखे और मार्मिक व्यंग किये हैं। इसकी छेड़ छाड़ और चुहलबाजी बड़ी मनोरंजक होती थी। इन्होंने एक बार श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के कुछ प्रयोगों की आलोचना करते हुए 'आत्माराम' के नाम से एक लेखमाला

निकालो । उत्तर में, गम्भीर प्रकृति के द्विवेदी जी को भी 'सरगौ नरक ठेका नी नाहि' शीर्षक देकर 'कल्लू अल्लैत' के नाम से एक विनोदपूर्ण आल्हा लिखना पडा ।

'शिवशम्भु के चिट्ठे' के अतिरिक्त 'हरिदास' 'मडेल भगिनी' 'रत्नावली नाटिका' आदि कई रचनाएँ एवं अनुवाद प्रकाशित हुए हैं । निबन्धों का संग्रह 'गुप्त-निवांधावली' के नाम से छप चुका है ।

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में सं. १८२१ ई. में हुआ था और मृत्यु १८८५ में । आपने मातृ भाषा हिन्दी के प्रेम के कारण जी. आई. पी. रेल्वे हेड क्लर्की को त्याग कर सं. १८६० ई. में 'मरस्वती' का सम्पादन स्वीकार किया । तब हिन्दी की दशा अत्यंत शोचनीय थी । भाषा का रूप अस्थिर था । व्याकरण के नियमों में खींचातानी थी, विराम चिन्हों का प्रयोग दोषपूर्ण था । आपने उन दोषों को दूर कर भाषा शैली के निर्माण करने का सफल प्रयत्न किया । उन्होंने एक ओर अनेक नये कवियों की खड़ी बोली में कविता करना सिखाया दूसरी ओर आलोचना शास्त्र की नींव डाली । इस प्रकार गद्य-पद्य दोनों के रूप को संवार-सुधार कर, अनेक साहित्यकों का सफल पथ-प्रदर्शन कर आपने साहित्य का नया युग-निर्माण किया जिसे इतिहासकारों ने 'द्विवेदी युग, की संज्ञा से सुशोभित किया है ।

द्विवेदी जी इस बात को मानते थे कि कठिन से कठिन विषय को भी सरलतम रूप में पाठक के सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिये । उनके निबन्धों में सरसता, एवं आत्मीयता होती है । वे विषय को बहुत समझा बुझाकर कहते हैं । उनकी सब रचनायें ४० संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं । उन्होंने शुद्ध साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, समीक्षा, आदि सभी

विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। आपके ग्रन्थों में शिक्षा, बेकन-विचार रत्नवाली, स्वाधीनता, महाभारत आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। 'नैषध चरित चक्र' 'कालिदास की निरंकुशता' आदि में आपने संस्कृत कवियों की अच्छी समालोचनाएँ की हैं।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का जन्म सं. १९६१ ई. में हुआ था। आपका विवाह हिन्दी सेवी डा लक्ष्मणसिंह जी के साथ सं. १८७६ वि. में हुआ था। आपको कवियत्री एवं कहानी लेखिका के रूप में हिन्दी साहित्य में यथेष्ट प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त हुआ। आपकी कवितायें पहले 'त्रिधारा' नामक संग्रह में श्रीयुत केशव प्रसाद पाठक और श्रीयुत माखनलाल चतुर्वेदी की चुनी हुई कविताओं के साथ प्रकाशित हुईं। शेष कविताओं का संग्रह 'मुकुल' है।

आपकी कहानियों के संग्रह 'बिखरे मोती' पर साहित्य सम्मेलन की ओर से सेक्रेटरिया पुरस्कार दिया गया था। आपकी कहानियाँ दासता की रुढ़ियों व सामाजिक बन्धनों से त्रस्त मानव के हृदय की प्रतिध्वनियाँ हैं। नारी जीवन पर भी भावुकतापूर्ण कहानियाँ आपने लिखी हैं। आपकी कहानियों में भी कवि हृदय की झलक पाई जाती है।

आपने देश के स्वतंत्रता संग्राम में भी सक्रिय सहयोग दिया था। आप मध्यप्रदेश विधान सभा की सदस्या थीं। कुछ वर्ष पूर्व मोटर दुर्घटना से आपकी मृत्यु हो गई।

श्री जयशंकर प्रसाद

श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी में सं. १८४६ में हुआ और मृत्यु सं. १८८४ में। घर पर संस्कृत, फारसी, हिन्दी और अंग्रेजी की शिक्षा

पाईबॅंगला का भी अच्छा अध्ययन किया था। प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, साहित्य का कोई भी अंग इन्होंने अधूरा न छोड़ा। विश्वकवि रवीन्द्रठाकुर की भाँति नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास सभी क्षेत्रों में इन्हें सफलता मिली है। काव्य के क्षेत्र में तो यह नवयुग के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। इनकी कृतियों में आँसू तथा कामायनी हिन्दी साहित्य के दैदीप्यमान नक्षत्र हैं। प्रारम्भिक रचनाएँ 'कानन कुसुम', 'महाराणा का महत्व', 'करुणालय' और 'प्रेम पथिक' भी सुन्दर हैं। पहले पहल ये ब्रजभाषा में कविताएँ लिखते थे जिनका संग्रह 'चित्रभार' है।

नाटक के क्षेत्र में इन्हें अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। इनके 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि आधे दर्जन से अधिक नाटक प्राचीन भारतीय संस्कृति और गौरव के उत्कृष्ट चित्र हैं। इनकी अधिकांश कहानियाँ भाव-प्रधान और रोमांटिक हैं। ऐतिहासिक कहानियों में तत्कालीन वातावरण का सुन्दर चित्रण है। इनके दो उपन्यास 'तितली' तथा 'कंकाल' हैं। 'कंकाल' में समाज के खोखलेपन का मार्मिक चित्रण है।

प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य पर कवि की भावुकता, गम्भीर चिन्तन, भारतीय संस्कृति से प्रेम, इतिहास एवं बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन का प्रभाव दिखाई पड़ता है। आपकी शैली पर बँगला साहित्य का प्रभाव है। भावपूर्ण काव्यात्मक चित्रप्रधान शैली आपकी विशेषता है। भाषा साधारणतः चलती हुई तथा विशुद्ध है।

श्री रामचन्द्र शुक्ल

श्री रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले के अगोनी ग्राम में सं० १९४१ वि. में हुआ था। आपने घर में संस्कृत तथा कालेज में एफ. ए. तक शिक्षा प्राप्त की, पर स्वयं अभ्यास कर अनेक भाषाएँ सीख ली थीं।

प्रारम्भ में मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक हो गये थे । 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों के कारण हिन्दी-जगत इनसे परिचित हुआ । सं. १९६५ वि. में 'हिन्दी शब्द सागर' के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए । लगभग १८ वर्ष तक आपने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन किया । हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी के प्रध्यापक हुए तथा बाद में मृत्युपर्यन्त हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे ।

शुक्ल जी प्रौढ, गम्भीर समालोचक, मौलिक निबन्धकार, सुविज्ञ लेखक एवं कवि थे । हिन्दी में वैज्ञानिक समीक्षा का आरंभ इन्होंने ही किया । सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी इनकी आलोचना आज भी आदर्शरूप से मान्य है । आपका कीर्तिस्तम्भ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है । 'काव्य में रहस्यावाद' शीर्षक समीक्षात्मक निबन्ध पर 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' ने ५०० रु. का पुरस्कार देकर आपको सम्मनित किया था । 'चिन्तामणि' नामक निबन्ध संग्रह पर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने १२०० रु० का 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया था । अनूदित ग्रंथों में 'बुद्ध चरित' एवं 'शशांक' (उपन्यास) सुन्दर कृतियाँ हैं । 'हृदय का मधुर भार' 'वसन्त पाथिक' आदि कविताओं में प्रकृति वर्णन सुन्दर हैं । आपके मनोवैज्ञानिक निबन्ध जैसे क्रोध, श्रद्धा, करुणा, भक्ति हिन्दी में अद्वितीय हैं ।

इनकी भाषा एवं शैली भाव के अनुसार बदल जाती है । भाषा पर इनका विलक्षण अधिकार था । साहित्य चिन्ता, आलोचना अथवा मनो-वैज्ञानिक लेखों में गम्भीर, तत्सम-प्रधान, वैज्ञानिक विवेचना शैली का प्रयोग आपने किया है । परन्तु प्रतिपक्षी पर कटाक्ष एवं व्यंग करते समय उर्दू शब्दों से युक्त फड़कती हुई भाषा का आपने प्रयोग किया है ।

शुक्ल जी भावुक थे । इन्हें प्राचीन संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम था । जीवन के प्रति आपका दृष्टिकोण स्वस्थ एवं सामाजिक था । वे प्रकृति-

सौंदर्य के उपासक, साहित्य-रसिक तथा विनोदशील थे। हिन्दी साहित्य उनका चिरकृणी है।

श्री द्विजेन्द्रलाल राय

श्री द्विजेन्द्रलाल राय का जन्म सं. १८६३ ई. में हुआ और मृत्यु सन् १९१३ ई. में। आप बंगला नाट्य-साहित्य में प्रहसन लेकर उतरे। आपका प्रथम प्रहसन था 'कल्कि अवतार' और प्रथम गद्यरचना 'एक घर में'। इन दोनों रचनाओं में आपने प्राचीन पंथी हिन्दू समाज पर व्यंग बाणों की वर्षा की है। ब्रह्म समाज और विलायत से लौटे हुए व्यक्ति भी आपकी आलोचना से न बचे। आपकी प्रारम्भिक रचनाओं में हास्य और व्यंग का यथेष्ट समावेश है। आपके 'पाषाणी' और 'सीता' नामक दो पौराणिक नाटक हैं। 'सीता' उनकी श्रेष्ठ नाट्य रचनाओं में गिनी जाती है। आपकी ऐतिहासिक रचनाएँ, दो नाट्य-काव्य 'ताराबाई' और 'सोहराय रस्तम' से प्रारम्भ होती हैं। इसके पश्चात् द्विजेन्द्रलाल राय के श्रेष्ठ गद्य, ऐतिहासिक नाटकों की शृंखला प्रारम्भ होती है जिनमें 'प्रताप-सिंह', 'दुर्गादास', 'नूरजहाँ', 'मेवाड़ पतन' और 'शाहजहाँ' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश-प्रेम कूट-कूट कर भरा है। कौतूहलपूर्ण दृश्यों के प्रस्तुत करने में नाटककार ने इतिहास की रक्षा नहीं की है और चरित्र-चित्रण में भी उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली है। फिर भी उनके नाटक मनोरंजक, अभिनेय और पठनीय हैं अतः बहुत जनप्रिय हुए हैं। कई भाषाओं में आपके नाटकों का अनुवाद हुआ है।

श्री बालकृष्ण भट्ट

श्री बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १९०१ वि. में प्रयाग में हुआ था। घर पर संस्कृत की शिक्षा प्राप्त कर मिशन स्कूल में अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया। पादरी हेडमास्टर से वाद-विवाद हो जाने पर स्कूल छोड़

दिया और फिर संस्कृत पढ़ने लगे। इसी बीच में ये यमुना मिशन स्कूल में अध्यापक हो गये, पर वहाँ भी अपनी धर्म-निष्ठा के कारण न निभी। नौकरी छोड़ व्यापार किया पर वह भी इनकी प्रकृति के अनुकूल न पड़ा। फिर साहित्य सेवा की ओर ध्यान दिया और शीघ्र ही प्रसिद्ध लेखक हो गये। आप 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक बनाये गए पर 'प्रेस एक्ट' के कारण 'प्रदीप' अधिक दिन न चल सका। पीछे भट्टजी कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक हो गये। सं. १९७१ वि. में देहवसान हुआ।

भट्टजी का हिन्दी-गद्य-निर्माताओं में अत्यंत उच्च स्थान है। आपने जीवन पर्यन्त हिन्दी की सेवा की। आपके लेखों का संग्रह 'साहित्य सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। आपने 'रेल का विकट खेल' 'बाल विवाह नाटक' 'सौ अजान एक सुजान', 'नूतन ब्रह्मचारी' आदि अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। 'हिन्दी प्रदीप' में भट्टजी के लिखे हुए अनेक कवियों एवं लेखकों के जीवन चरित्र, ग्रन्थों की आलोचनाएँ, कई ग्रन्थों के भावानुवाद तथा छोटे विषयों 'नाक', 'कान', 'आँसू', आदि पर मनो-रंजक लेख निकलते थे। उनके भावात्मक लेख तथा निबन्ध 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता' आदि सराहनीय हैं।

भट्टजी की भाषा सरल, जन-प्रचलित साधारण बोल-चाल की होती थी। उर्दू अंग्रेजी के प्रचलित शब्द, मुहावरे एवं कहावतें तथा कहीं-कहीं पूर्वी प्रयोग इनके लेखों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। व्यंग और वक्रता इनके लेखों में भरी रहती थी।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म सं. १९२२ वि. में आजमगढ़ में हुआ। आपने हिन्दी साहित्य के गद्य और पद्य दोनों ही अंगों को सजाया है। खड़ी बोली के प्रथम मौलिक महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' की रचना कर

आपने खड़ी बोली का सिक्का काव्य क्षेत्र में भी बैठा दिया। इसके अतिरिक्त 'वैदेही वनवास', 'चौखे चौपदे', 'रस कलस' भी सुन्दर रचनाएँ हैं। 'प्रिय प्रवास' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' दिया गया।

आपके गद्य-ग्रन्थों में 'वेनिस का बाँका', 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' 'अधखिला फूल' बहुत प्रसिद्ध हैं। आपने गद्य की भाषा के कई नमूने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किए हैं। 'वेनिस का बाँका' में शुद्ध एवं क्लिष्ट संस्कृत शब्दावली का प्रयोग है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में भाषा प्रवाहपूर्ण है पर शब्दावली सरल है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में 'ठेठ पन' की हद है। इस प्रकार उन्होंने भाषा का जो रूप चाहा उसे सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया है।

आपकी शैली मधुर एवं काव्यपूर्ण है। पर कहीं-कहीं गठन सुन्दर नहीं बन सका है। शैली में कहीं-कहीं पण्डिताऊपन भी आ गया है।

महात्मा गांधी

विश्वविभूति 'प्रातःस्मरणीय राष्ट्रपिता महात्मागांधी' को कौन नहीं जानता। भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व उनकी वन्दना कर रहा है। पूज्य बापू ने संसार को सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाया है। इनका जन्म पोरबन्दर में २ अक्तूबर, सन् १८६९ ई. में हुआ था। आप बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैण्ड गये। वहीं से उनके जीवन में आमूल परिवर्तन आरम्भ हुआ। उसके बाद का सारा जीवन त्याग, तपस्या, संघर्ष, सत्य और अहिंसा से ओतप्रोत है। संसार की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध अहिंसा की लड़ाई लड़कर आपने भारत को स्वतन्त्रता दिलाई। आपका जीवन-दर्शन 'गांधीवाद' के नाम से सर्वत्र श्रद्धा और सम्मान प्राप्त कर चका है, विश्व-

बन्धुत्व और विश्व-शान्ति का एक मात्र उपाय गाँधीवाद है। आपने भारतीय संस्कृति को पुनः एक नये रूप में जीवित कर दिया है।

आप की शैली आपके समान ही सीधी और सरल है। छोटे-छोटे वाक्यों में, सीधे सरल शब्दों में बिना किसी अलंकार व सज्जा के गाँधीजी गम्भीर महत्वपूर्ण विषय खोलकर हमारे सम्मुख रख देते हैं। आपने जीवन के लगभग सभी पक्षों पर अपनी लेखनी उठ ई है। सर्वत्र आपके त्यागमय सबल व्यक्तित्व और निर्मल-हृदय की छाप मिलती है।

श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' चुनार (मिर्जापुर) के निवासी हैं। आपने कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध लिखे हैं। आरम्भ में आप का सम्बन्ध हास्य पत्र 'मतवाला' से था। आपने अपनी कहानियों और उपन्यासों द्वारा समाज का नग्न चित्रण कर समाज की रूढ़िवादिता और नैतिक भावना को ललकारा है। इनकी रचनाएँ यद्यपि लोकप्रिय हुईं पर उनकी कटु आलोचना भी कम न की गई। आपकी भाषाशैली कलात्मक एवं नाटकीय तथा भावाभिव्यंजना अनूठी होती है। लेखन शैली ओजपूर्ण एवं मनोरंजक होती है।

'चन्द हसीनों के खतूत', 'चिनगारियाँ', 'बुधुवा की बेटी', 'शराबी' 'घण्टा 'आवारा' आदि आपकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

श्री डॉ. वंशीधर विद्यालंकार

श्री. डॉ. वंशीधर विद्यालंकार का जन्म सम्वत् १९५७ में बवेटा (बलो-चिस्ताब) में हुआ। आपने गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार में शिक्षा पाई। आप कुछ वर्ष औरंगाबाद कालेज में प्राध्यापक रहे। अभी कुछ ही समय पूर्व

आपने हिन्दी विभाग उस्मानिया विश्वविद्यालय के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया है। आजकल आप नानकराम भगवानदास विज्ञान महाविद्यालय के प्रिन्सिपल हैं। इधर कई वर्षों से आप 'अजन्ता' मासिक पत्रिका का सफल सम्पादन कर रहे हैं।

पण्डित जी हिन्दी और संस्कृत के उद्भट विद्वान्, प्रौढ़ एवं चिन्तन-शील आलोचक तथा भावुक कवि हैं। मौलिकता आपकी रचनाओं की प्रधान विशेषता है। आपकी कवितायें सरल, सरस और मर्मस्पर्शी होती हैं। आपकी आलोचनायें विद्वत्तापूर्ण गम्भीर एवं निष्पक्ष होती हैं। आपने बड़े ही मनोरंजक संस्मरण लिखे हैं। सम्पादक के रूप में आपको बहुत प्रतिष्ठा मिली है।

आपकी भाषा भाव की अनुगामिनी तथा शैली प्रभावपूर्ण होती है। आपका एक काव्य संग्रह 'मेरे फूल' तथा अंग्रेजी में 'शकुन्तला-ए ट्रेजडी एण्ड अदर एसेज' नामक निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी ने आपको आपकी साहित्य-सेवा के कारण 'विद्यामार्तण्ड' (Ph. D.) की सम्मानित उपाधि प्रदान की है।

श्री श्यामसुन्दरदास

श्री श्यामसुन्दरदास का जन्म सम्वत् १९३२ वि० में बनारस में हुआ। बी. ए. पास करने के बाद सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में अंग्रेजी के अध्यापक हुए। कुछ वर्ष शिमला, काश्मीर, तथा लखनऊ में रहकर अन्त में काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हो गए। कुछ वर्ष कानपुर में अवकाश का जीवन बिता सम्वत् २००२ वि० में परलोक-वासी हुए।

हिन्दी सेवकों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। जीवन भर आप अनेक प्रकार से हिन्दी की सेवा करते रहे। आप काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रमुख संस्थापक थे। सभा द्वारा साहित्यिक खोज, ग्रंथ सम्पादन एवं प्रकाशन का जो कुछ कार्य हुआ उससे किसी न किसी रूप में श्रीयुत श्याम-सुन्दरदास सम्बन्धित रहे। 'हिन्दी-शब्द-संग्रह' और 'हिन्दी-वैज्ञानिक-कोष' का सभा द्वारा प्रकाशन आप ही के तत्वावधान में हुआ। आपका प्रमुख ग्रंथ है 'साहित्यालोचन', 'हिन्दी भाषा और साहित्य', 'भाषारहस्य' 'गोस्वामी तुलसीदास'। आपकी इन सेवाओं के उपलक्ष्य में काशी विश्वविद्यालय ने 'डी. लिट.', भारत सरकार ने 'राय बहादुर' तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधियाँ देकर आपको सम्मानित किया।

आप शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। अतः आपकी रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य तथा उर्दू, फारसी के शब्दों का बहिष्कार मिलता है। आपकी शैली गम्भीर और संयत है पर कहीं कहीं दुरुह हो जाती है।

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सम्वत् १९६४ वि० में फर्रुखाबाद में हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय से एम् ए (संस्कृत) की परीक्षा उत्तीर्ण कर प्रयाग-महिला-विद्यालय की आचार्या हो गई। अभी भी आप उस पद को सुशोभित कर रही हैं। आप उत्तर-प्रदेश राज्य-सभा की मनोनीत सदस्या हैं।

छायावादी और रहस्यवादी कवियों में महादेवी जी का ऊँचा स्थान है। आपका काव्य-वेदना और पीड़ा से ओत-प्रोत है। आपके काव्य संग्रह 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत', 'यामा' तथा 'दीपशिखा' बहुत लोकप्रिय हुए हैं। आप 'आधुनिक मीरा' कहलाती हैं।

आपने कई वर्षों तक 'चांद' का सम्पादन भी किया है। आपनी अपनी रचना 'शृंखला की कड़ियाँ' में भारतीय नारी की विषम समस्याओं का सुन्दर मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया है। 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक रचनाओं में भावुकता भरे संस्मरण हैं। अपने विवेचनात्मक गद्य में आपने साहित्य विषयों पर गम्भीर चिन्तनशील लेख लिखे हैं।

आपका भाषा पर विलक्षण अधिकार है। भाव और विषय के अनुकूल भाषा के प्रयोग की कला में आप निद्वहस्त हैं। आपकी भाषा शुद्ध चित्रात्मक एवं संयत होती है, पर कहीं-कहीं दुरुहता आ जाती है।



